POETICS AND AESTHETICS (IV)

M.A. SANSKRIT

Semester-II, Paper -V

CENTRE FOR DISTANCE EDUCATION

CENTRE FOR DISTANCE EDUCATION
ACHARYA NAGARJUNA UNIVERSITY
NAGARJUNA NAGAR-522510

POETICS AND AESTHETICS (IV)

M.A. SANSKRIT

Semester-II, Paper -V

Director

Dr.Nagaraju Battu

M.H.R.M., M.B.A., L.L.M., M.A. (Psy), M.A., (Soc), M.Ed., M.Phil., Ph.D.

Centre for Distance Education

Acharya Nagarjuna University

Nagarjuna Nagar-522510

Phone No.0863-2346208, 0863-2346222,

0863-2346259 (Study Material)

Website: www.anucde.info

e-mail: anucdedirector@gmail.com

[1]कुट्टिन्यत्तेत्यनुगतैः पूज्याम्बा जरती जनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी[2] चेटीति शब्द्यते ॥ ७१ ॥

पूज्या जरती अम्बेति । स्पष्टमन्यत् ।

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावान्
अशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा
यो वा न देवः शशिखण्डमौलिः ॥ ७२ ॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः । चेष्टाः=लीलाद्याः, गुणाः=विनयाद्याः, उदाहृतयः=संस्कृत-प्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं=निर्विकारात्मकं मनः, भावः=सत्त्वस्य प्रथमो विकारः, तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः ॥

॥ इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके नेतृप्रकाशो नाम द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

पुकारे । कुट्टिनी को अत्ता कहकर तथा अनुचर व्यक्तियों के द्वारा पूज्या या वृद्धा स्त्री 'अम्बा' शब्द से संबोधित की जाय । विदूषक रानी और चेटी दोनों को 'भवति' शब्द से पुकारे ॥ ७०-७१ ॥

पूज्य अथवा वृद्ध स्त्री सभी लोगों के द्वारा अम्ब शब्द से पुकारी जाती है । कारिका का शेष अंश स्पष्ट है ।

आचार्य भरत अथवा भगवान् शंकर के अलावा ऐसा कौन होगा जो चेष्टा, गुण, उदाहृति [उक्ति] सात्त्विक-भाव और अगणित नायक और नायिकाओं की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने में समर्थ हो सके [अर्थात् भगवान् शंकर और आचार्य भरत के अतिरिक्त इन चेष्टा आदि का पूर्णतया निरूपण करने में अन्य कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ७२ ॥

॥ इस प्रकार धनञ्जयकृत दशरूपक के द्वितीय प्रकाश की हिन्दी समाप्त हुई ॥

[तात्पर्य यह है कि संक्षेप में प्रस्तुत ग्रन्थ में इनका] दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है । [२.३२ में वर्णित] लीला आदि 'चेष्टा' है । [२.१ में वर्णित] विनय आदि गुण हैं । [२.६४ में वर्णित] संस्कृत एवं प्राकृत आदि उक्तियाँ हैं । [२.४,३०, ३३ में वर्णित] विकार-रहित मन सत्त्व है । [२.३३ में वर्णित] सत्त्व का प्रथम विकार भाव है। कारिका-गत इस 'भाव' शब्द से ही [२.३४ आदि में वर्णित] 'हाव' का भी ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार विष्णु के पुत्र धनिक की कृति में दशरूपावलोक के 'नेतृ प्रकाश' नामक द्वितीय प्रकाश की सुधाकर मालवीय कृत 'विद्वद्विनोदिनी' नामक हिन्दी समाप्त हुई ॥

---

१. 'कुट्टिन्यनुगतैः पूज्या अम्बेति युवतीजनैः' इति पाठान्तरम् । २. 'राज्ञा' इति वा पाठः ।

तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते—

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयोरसपरिग्रहात् ।
संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥ १ ॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । शेषं प्रतीतम् ।

नत्वा गुरून् महाभागान् मालवीयः सुधाकरः ।
करोति दशरूपस्य व्याख्यां 'विद्वद्विनोदिनीम्' ॥

नाट्य का एक आदर्श प्रकार नाटक

रस के विषय में बहुत कुछ कहना है, अतः [क्रम प्राप्त] रसविचार का उल्लंघन करके नाटक प्रकरण आदि में **वस्तु, नेता** और **रस** के उपयोग का प्रतिपादन [इस प्रकाश में] किया जा रहा है—

परिष्कार—प्रथम प्रकाश में कथावस्तु और द्वितीय प्रकाश में नेता [=नायक] के विवेचन के बाद रूपक के भेदक तत्त्व वस्तु, नेता और रस में से अब यद्यपि रस ही क्रम-प्राप्त है परन्तु रस के विषय में बहुत कुछ कहना है । इसलिए उसे यहाँ छोड़कर वस्तु, नेता और रस का अलग-अलग नाटक में क्या उपयोग है—इसी का प्रतिपादन किया जा रहा है । प्रश्न उठता है कि रूपक, प्रकरण, भाण आदि दस भेदों में से नाटक में ही सर्वप्रथम वस्तु, नेता और रस का उपयोग क्यों बतलाया जा रहा है ? क्योंकि—

[प्रथमतः] नाटक ही सब रूपकों का मूल है । [दूसरा कारण यह है कि] इसी के भीतर रसों का प्राचुर्य रहता है । [इसके अतिरिक्त तीसरा कारण यह है कि] रूपकों के संपूर्ण लक्षण मात्र नाटक में ही घटते हैं । [इन्हीं तीन कारणों से] सर्वप्रथम नाटक [के ही भीतर वस्तु, नेता और रस के उपयोग] को कहते हैं ॥ १ ॥

परिष्कार—प्रस्तुत कारिका में नाटक के लक्षण का सर्वप्रथम प्रतिपादन का कारण बतलाया गया है । इस संबन्ध में नाटक को सभी अन्य रूपकों की प्रकृति अर्थात् मूल कहा गया है । अतः अन्य प्रकरण आदि रूपक के प्रकार विकृतिभूत हैं । नाटक में बहुत से रस अङ्गाङ्गिभाव रूप से होते हैं । अब यहाँ नाटक को प्रकृतिभूत क्यों कहा है ? इसलिए वृत्तिकार कहते हैं कि—

क्योंकि नाटक के सभी धर्म बतलाए गए हैं । किन्तु प्रकरण आदि का सभी धर्म [आगे मूलकारिका में धनञ्जय द्वारा] नहीं कहा गया है । [अपितु 'शेषं नाटकवत्'

तत्र—

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यार्थं स्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला। तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता। तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत्। स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात् स्थापकः।

(३-३९-४०) कहकर छोड़ दिया गया है। अतः विकृतिभूत] प्रकरण आदि की प्रकृति नाटक [ही] है; और कारिका का शेष भाग स्पष्ट ही है।

परिष्कार—इस कारिका की व्याख्या भावप्रकाश [पृ० २२१-२४१] में शारदातनय ने भी की है। सभी अन्य रूपकों में नाटक को प्रतिनिधि रूप में मानते हुए उसे प्रकृति इसलिए बतलाया गया है कि नाटक की सभी विशेषताओं को धनञ्जय ने इस प्रकाश में १ से लेकर ३८ कारिका तक कहा है और रूपक के अन्य प्रकार प्रकरण आदि के सभी धर्म न बतलाकर 'शेष धर्म नाटक के ही समान होते हैं'—ऐसा ३९-४० कारिका में कहकर प्रकरण आदि को उसकी विकृति के रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः बात यह है कि नाटक के ही लक्षण में वस्तु, नेता और रस के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करने से ही प्रकरण आदि के लक्षण बन जाते हैं। दशरूपक की प्रभा टीका में धनिक के 'उद्दिष्टधर्मकम्' की व्याख्या इसी अर्थ को लेकर की भी गई है।

उस [नाटक] में—

सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग का विधान करके सूत्रधार के रङ्गमञ्च से चले जाने पर उसी के समान दूसरा नट प्रविष्ट होकर काव्यार्थ की स्थापना [=सूचना, सामाजिकों के सामने] करे ॥ २ ॥

[अभिनय से] पहले जिसमें [सामाजिकों का] अनुरञ्जन हो वह 'पूर्वरङ्ग' शब्द से अभिहित होता है। [तो नाट्यशाला में 'पूर्वरङ्ग' शब्द का प्रयोग क्यों? क्योंकि—नाट्यशाला में देवस्तुति आदि उत्थापनादि प्रयोग होते हैं। इसीलिए पूर्व में प्रयोग अर्थात् औपचारिक कृत्य होने के कारण] नाट्यशाला को भी 'पूर्वरङ्ग' शब्द से समझा जाता है। उस नाट्यशाला में [अभिनय से संबन्धित] किए गए प्रथम प्रयोग पूर्वरङ्गत्व को प्राप्त करते हैं। [पूर्वरङ्ग की] उस [क्रिया] को करके सूत्रधार के निकल जाने पर उसी सूत्रधार के समान ही अन्य नट [=अभिनेता] वैष्णवस्थानक रूप से प्रविष्ट होकर काव्य के वस्तु की स्थापना [=सूचना] करता है, और वह नट यतः काव्य के वस्तु की स्थापना [=सूचना] करता है अतः उसे 'स्थापक' कहा जाता है।

परिष्कार—नाट्यशास्त्र [१०-५१-५३] के अनुसार शरीर की अवस्था विशेष (काय सन्निवेश) को **वैष्णवस्थानक** कहते हैं। कायसन्निवेश की छः अवस्थाओं में से

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ ३ ॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्। वस्तु, बीजं, मुखं, पात्रं वा।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥'

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥' [रत्ना० १.६]

एक वैष्णवस्थानक है। इस अवस्था में दोनों पैर ढाई ताल (समय की एक माप) के अन्तर से रहते हैं। एक पैर सम (सीधा) रहता है, दूसरा कुछ तिरछा रहता है। अङ्गुलियाँ पार्श्वों की ओर उन्मुख रहती हैं। घुटने कुछ मुड़े रहते हैं तथा शरीर सीधा रहता है।

[स्थापक को यदि दिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो] उसे दिव्य [देवता के] रूप से और यदि अदिव्य [मानव संबन्धी] वस्तु की सूचना देनी हो तो मनुष्य वेष से तथा यदि मिश्रवस्तु [जैसे राम आदि की कथा जिसमें देव और मानव दोनों के गुण मिश्रित हैं] की सूचना देनी हो तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके सूचना देनी चाहिए। [स्थापक को यह भी चाहिए कि] वह वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र में से किसी एक को सूचना दे ॥ ३ ॥

वह स्थापक दिव्य वस्तु को दिव्य होकर, और मर्त्य वस्तु को मर्त्य होकर तथा दिव्य-मर्त्य वस्तु को दिव्य अथवा मर्त्य [वेष में] होकर सूचित करे। यह सूचना वस्तु, बीज, मुख एवं पात्र की होनी चाहिए।

जैसे **कथावस्तु** की सूचना 'उदात्तराघव' में इस प्रकार की गई है—

'भगवान् राम अपने पिता की आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य करके वन को चले गए। उन [राम] की भक्ति के कारण भरत ने माता के साथ ही [अयोध्या के] संपूर्ण राज्य का परित्याग कर दिया। अनुचर बने हुए वे दोनों सुग्रीव और विभीषण भी अत्यधिक सम्पत्ति से विभूषित कर दिए गए तथा प्रकृष्ट रूप से उद्धत चरित्र वाले रावण इत्यादि सारे शत्रु मार डाले गए।' (महानाटक ९.११३)।

जैसे **बीज** की सूचना 'रत्नावली' में इस प्रकार है—

'यदि प्रारब्ध अनुकूल हो तो, अभीष्ट [वस्तु] को दूसरे द्वीप से भी, सागर के मध्य से भी, अथवा दिशाओं के अन्त से भी लाकर एकाएक मिला देता है।'

मुखं यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्रायः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥' [छलितरामस्य]

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥' [शाकु० १.५]

जैसे **मुख** की सूचना ['छलितराम' नाटक में] इस प्रकार है—

[भाव है—घने अन्धकार वाले वर्षा ऋतु रूपी रावण को मारकर भगवान् राम स्वच्छ चन्द्रमा का हास्य लिए हुए स्वच्छ-शरद् ऋतु रूप में प्रकट हुए]—

'प्रकट निर्मल चन्द्रहास [चन्द्रमा का प्रकाश अथवा चन्द्रहास नाम की रावण की तलवार] को जिसने प्राप्त कर लिया है, जो विशुद्ध कान्तिवाला है और जिस [शरत् काल] को बन्धुजीव अर्थात् मध्याह्नकालीन पुष्प अथवा जिस [राम] को बन्धुओं का जीवन प्रफुल्लित कर रहा है। इस प्रकार का यह शरत् काल गाढ़े अन्धकार वाले भयावह वर्षाकाल को नष्ट करके उसी प्रकार प्रगट हो रहा है जिस प्रकार मानों राम-भीषण अज्ञानी, उग्र तथा अत्यन्त काले वर्ण के राक्षस रावण को मारकर एवं बन्धु बान्धवों के प्राणों को फिर से लौटाते हुए प्रकट हुए।'

[यह उदाहरण दश० ३.१० में भी उद्धृत है। नाट्यदर्पण के अनुसार यह उदाहरण 'छलितराम' नाटक से लिया गया है]।

जैसे **पात्रं** की सूचना 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में इस प्रकार है—

[सूत्रधार नटी से कहता है कि] 'तुम्हारे गीत के मनोहर राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया है जैसे वेग से दौड़ते हुए हरिण के द्वारा राजा दुष्यन्त आकर्षित कर लिए गए।'

परिष्कार—वस्तु, बीज, मुख एवं पात्र की दृष्टि से सूचना चार प्रकार की कही गई है—(क) 'उदात्तराघव' के श्लोक में नाटक के आदि से अन्त तक की कथा की सूचना दी गई है अतः यह वस्तु सूचना है। (ख) 'रत्नावली' नाटिका के इस श्लोक में—जहाज टूट जाने पर भी समुद्र से निकली हुई सागरिका का प्रारब्धवशात् वत्सराज के घर में आना—इस फल के लिए यौगन्धरायण के द्वारा किए गए प्रयत्न रूप 'बीज' की सूचना है। (ग) 'छलितराम' नाटक के इस श्लोक में शरद् काल का वर्णन है। इस वर्णन के प्रसंग से ही श्लेष के माध्यम से रामकथा के वृत्तान्त की सूचना दी गई है। साहित्य-दर्पण (६.२७) के अनुसार श्लेष आदि के माध्यम से प्रस्तुत वस्तु की सूचना वाला वचन ही 'मुख' कहा गया है। प्रस्तुत श्लोक में शरद् को राम से उपमित किया गया है; और

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥ ४ ॥

रङ्गस्य प्रशस्ति काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा,—

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ॥' [रत्ना० १.२]

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।

वर्षाकाल को, जिसका ध्वंस शरद् ने किया है, रावण के समान बताया गया है। शरद् में निर्मल चन्द्रमा का 'हास' अर्थात् विकास होता है, और रावण के पास मालिन्यरहित 'चन्द्रहास' नामक खड्ग था, जिसे राम ने प्राप्त किया। शरद् की कान्ति भी विशुद्ध होती है और राम की कान्ति भी विशुद्ध थी। वर्षा में गाढ़ तम (=अन्धकार) होता है और रावण में तमोगुण गाढ़ रूप से था। वर्षा, घनों (=बादलों) का काल (=समय) है; और रावण 'घन' (=गहरे) 'काल' (=काले रंग का) था। शरद् में बन्धुजीव (गुलदुपहरिया) का फूल खिलता है और राम ने बन्धु (=लक्ष्मण) के जीव (=जीवन) को बचाया था। इस प्रकार इसमें श्लेष के द्वारा प्रकृत मुख्य कथा की सूचना दी गई है।

(घ) शाकुन्तल के इस श्लोक में यतः इस नाटक के मुख्य 'पात्र' दुष्यन्त की सूचना दी गई है अतः यह पात्र-सूचना है। इस पद्य में 'सारङ्ग' शब्द हिरण और राग दोनों में ही श्लिष्ट है। सारङ्ग राग मध्याह्न में गाई जाती है। दुष्यन्त भी मध्याह्न में ही शिकार खेलते हुए आश्रम पहुँचे हैं।

काव्य के अर्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्गस्थ सामाजिकों को प्रसन्न करते हुए किसी ऋतु का आश्रय लेकर स्थापक भारती-वृत्ति का आश्रयण करे ॥ ४ ॥

अभिनेय काव्य की कथावस्तु जिससे परिलक्षित होती हो—ऐसे श्लोकों के द्वारा रङ्गस्थ सामाजिकों की प्रशस्ति करके स्थापक "औत्सुक्य०....." आदि श्लोक के सदृश भारती-वृत्ति का प्रयोग करे—

'प्रथम समागम में उत्कण्ठा के कारण शीघ्रता करती हुई और स्वाभाविक लज्जा के कारण पीछे हटती हुई, फिर कुटुम्ब की स्त्रियों के द्वारा समझा-बुझा कर सामने लाई गई एवं आगे खड़े वर [=विरूपाक्ष] को देखकर भयभीत होती हुई एवं प्रेमाह्लाद का अनुभव करती हुई तथा विहसित वदन [=मुख] वाले महेश्वर से आलिङ्गित एवं रोमाञ्चित पार्वती आप सब का कल्याण करें।'

सा तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥ ५ ॥

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो नटाश्रयो व्यापारः=**भारती** । प्ररोचना-वीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणम्=**प्ररोचना** । यथा रत्नावल्याम् [१.५]—

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥'

(द) उस [भारती-वृत्ति] की परिभाषा इस प्रकार है—

नट का आश्रयण करके प्रयुक्त होने वाले प्रायः संस्कृत भाषा में किए गए वाग्-व्यापार [=वाचिकाभिनयप्रधान] को 'भारती-वृत्ति' कहते हैं। यह १. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन तथा ४. आमुख—इन चार भेदों से युक्त होती है ॥ ५ ॥

पुरुष विशेष के द्वारा प्रयुक्त की गई, संस्कृत-बहुल-वाक्यप्रधान-वाणी का नटाश्रित व्यापार 'भारती-वृत्ति' है। इसके १. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन तथा ४. आमुख—ये चार अंग होते हैं।

अब नाम-निर्देश के क्रम से इनके लक्षण बतलाए जा रहे हैं—

१. प्ररोचना

उन [चार अंगों] में [प्रस्तुत की] प्रशंसा के द्वारा [सामाजिकों का] उन्मुखीकरण [=उत्कण्ठित कर देना] 'प्ररोचना' है ॥

अर्थात् प्रस्तुत [रूपकादि] के अभिप्राय की प्रशंसा के द्वारा श्रोताओं की प्रवृत्ति को प्रकृत वस्तु की ओर आकृष्ट कर देना 'प्ररोचना' है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सूत्रधार इस प्रकार कहता है—

'[इस नाटिका के रचयिता] श्रीहर्ष निपुण कवि हैं, यह सभा भी गुणों का ग्रहण करने वाली है और लोक में वत्सराज उदयन का मनोरञ्जक वृत्तान्त [इस नाटिका की कथावस्तु] है और हम लोग भी अभिनय में कुशल हैं। इनमें से एक वस्तु भी वाञ्छित फल को देने में पर्याप्त है; तो फिर मेरे सौभाग्य से जब अपेक्षित सभी गुणों के समूह एक साथ ही मिल जायँ तो फिर क्या कहना ?'

परिष्कार—'प्ररोचना' शब्द का अभिप्राय प्रकृष्ट रूप से रोचन कराना [प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतयाध्रियते प्रकृतोऽर्थोऽनयेति प्ररोचना] अर्थात् किसी के मन को किसी

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥ ६ ॥
वीथ्यङ्गन्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मारिषं वा विदूषकम् ॥ ७ ॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।

प्रस्तावना वा

तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥ ८ ॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

तत्र कथोद्घातः—

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥ ९ ॥

ओर लुभाना है। रूपक की प्ररोचना भी रूपक अथवा रूपककार आदि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों की मनोरञ्जनात्मक प्रवृत्ति को अभिनय के प्रति आकर्षित करती है।

२. वीथी और ३. प्रहसन

वीथी और प्रहसन का निरूपण भी स्वयं [रूपक-भेद-निरूपण] के प्रसंग में आगे कर दिया जाएगा। किन्तु वीथी के अंग आमुख के भी अंग होते हैं। अतः उनका निरूपण यहीं किया जा रहा है ॥ ६-७ ॥

४. आमुख

प्रस्तुत विषय पर आक्षिप्त [=सूचना देने वाली] विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी, पारिपार्श्वक अथवा विदूषक में से किसी एक से बातचीत करते हुए सूत्रधार के द्वारा पाण्डित्यपूर्ण ढंग से रूपक के आरम्भ करा देने को 'आमुख' अथवा 'प्रस्तावना' कहते हैं ॥ ७-८ ॥

परिष्कार—वीथी का वर्णन आगे ३.६८-७० में और प्रहसन का वर्णन ३.५४-५६ में है। ये दोनों ही भारती-वृत्ति के अङ्ग हैं अर्थात् वाग्व्यापार प्रधान होने के कारण भारती-वृत्ति के प्रकारभूत हैं। भारती-वृत्ति तो वस्तुतः त्रैलोक्यव्यापिनीवृत्ति है। क्योंकि वाग्व्यापार जीवन के साथ-साथ चला करता है। रूपकों में 'प्ररोचना' आदि भारती-वृत्ति के अंश हैं। भारती-वृत्ति के 'अङ्गत्रय' का अभिप्राय वस्तुतः 'अंशत्रय' है। कारण यह है कि वीथी और प्रहसन तो रूपक-भेद हैं रूपक-अङ्ग नहीं। इसलिए वीथी और प्रहसन को भारती-वृत्ति का अङ्ग नहीं अपितु अंश ही मानना चाहिए। जैसा कि अभिनवभारतीकार ने कहा है—'अङ्गत्वमिति अंशत्व प्राप्ता इत्यर्थः। अन्यथा यदि रूपमस्यांगत्वं प्राप्ता इत्युच्यते, तदा वीथी प्रसहनं च रूपकभेदः न तु रूपकस्यांगम्! [नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, २०-२७]

उस [आमुख] में १. कथोद्घात, २. प्रवृत्तक, ३. प्रयोगातिशय तथा ४. वीथी में होने वाले तेरह अंग होते हैं ॥ ८-९ ।

उनमें से **कथोद्घात** इस प्रकार है—

'अपनी कथा के ही सदृश सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या वाक्यार्थ को

---

१. 'वाक्यं वाक्यार्थमथवा प्रस्तुतं यत्र सूत्रिणः' इति वा पाठः ।

गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः ।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम् [१.६]—'यौगन्धरायणः—द्वीपादन्यस्मादपि—' इति ।

वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे—'सूत्रधारः—

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥' [वेणी० १.७]

ततोऽर्थेनाह—'भीमः—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥' [वेणी० १.८]

ग्रहण करके जहाँ पात्र का प्रवेश हो वह 'कथोद्घात' है । यह दो प्रकार का होता है । [पहला वाक्य ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना और दूसरा वाक्यार्थ ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना] ॥९-१० ॥

वाक्य को ग्रहण करके पात्र के प्रवेश का उदाहरण—जैसे 'रत्नावली' में यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य 'द्विपादन्यस्मादपि' इत्यादि का प्रयोग अपनी उक्ति में करते हुए प्रविष्ट होता है ।

वाक्यार्थ को लेकर पात्र प्रवेश का उदाहरण—जैसे 'वेणीसंहार' में सूत्रधार कहता है—

'शत्रुओं के नष्ट हो जाने से जिनका वैर रूप अग्नि शान्त हो गया है इस प्रकार के पाण्डव लोग कृष्ण के साथ आनन्द मनाएँ । और रक्त से भूमि को सुशोभित करने वाले [अथवा रक्तेभ्यः प्रियजनेभ्यः प्रसाधिता दत्ता भूर्यैः, ते रक्तप्रसाधित भुवः] अपने प्रिय सेवकों को भूमि प्रदान करने वाले, तथा जिनके विग्रह अर्थात् शरीर घायल हो गए हैं [अथवा जिन्होंने विग्रह अर्थात् युद्ध समाप्त कर दिया है] इस प्रकार के कौरव लोग अपने भृत्यों के सहित स्वर्ग में स्थित [अथवा स्वस्थ शरीर] हों ।'

सूत्रधार के उपरोक्त वाक्य के अर्थ को लेकर तनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए भीमसेन प्रवृष्ट होते हैं—

'लाक्षागृह की अग्नि, विषमिश्रित अन्न और सभाप्रवेश इत्यादि के द्वारा हमारे प्राणों और धनराशियों पर प्रहार करके और पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र एवं केशों को खींचकर भी क्या मेरे जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र जीवित रह सकते हैं ?'

अथ प्रवृत्तकम्—

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात् प्रवृत्तकम् ॥ १० ॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः=**प्रवृत्तकम्** । यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥ [छलितरामस्य]
(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः)' ।

अथ प्रयोगातिशयः—

एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥ ११ ॥

अब **प्रवृत्तक** [का निरूपण करते हैं]—

जहाँ पर किसी काल [=ऋतु] के वर्णन की समानता के द्वारा पात्र के प्रवेश का आक्षेप [=सूचित] हो वह 'प्रवृत्तक' होता है ॥ १० ॥

अर्थात् प्रारम्भ हुए किसी [वसन्त आदि] काल के समान गुणों के वर्णन के आधार पर जहाँ पात्र का प्रवेश सूचित होता है; वह प्रवृत्तक है जैसे [निम्न पद्य में शरद् ऋतु के वर्णन के साथ ही साथ श्लेष के द्वारा समान गुणों का वर्णन करते हुए राम के प्रवेश की सूचना दी गई है]—

'प्रकट निर्मल चन्द्रहास [चन्द्रमा का प्रकाश अथवा चन्द्रहास नाम की रावण की तलवार] को जिसने प्राप्त कर लिया है; जो विशुद्ध कान्तिवाला है और जिस [शरद् काल] को बन्धुजीव अर्थात् मध्याह्नकालीन पुष्प अथवा जिस [राम] को बन्धुओं का जीवन प्रफुल्लित कर रहा है । इस प्रकार का यह शरत् काल गाढ़े अन्धकार वाले भयावह वर्षाकाल को नष्ट करके उसी प्रकार प्रगट हो रहा है जिस प्रकार मानो राम, भीषण अज्ञानी, उग्र तथा अत्यन्त काले वर्ण के [राक्षस] रावण को मारकर एवं बन्धु बान्धवों के प्राणों को फिर से लौटाते हुए प्रकट हुए । अर्थात् घने अन्धकार वाले वर्षा ऋतु रूपी रावण को मारकर भगवान् राम स्वच्छ चन्द्रमा का हास लिए हुए स्वच्छ-शरद्ऋतु रूप में प्रकट हुए ।'

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट राम प्रवेश करते हैं) ।

[यह उदाहरण दश० ३.३ पर भी उद्धृत है] ।

अब **प्रयोगातिशय** [का निरूपण करते हैं]—

'यह वह है' इस प्रकार के सूत्रधार के वाक्य से सूचित होकर जहाँ पात्र का प्रवेश होता है वहाँ 'प्रयोगातिशय' नामक आमुख माना गया है ॥ ११ ॥

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः' [शाकु० १.५] इति ।

अथ वीथ्यङ्गानि—

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

तत्र—

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते ।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला । प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला । द्वयोरुक्तिप्रत्युक्तौ तद्द्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमोर्वश्यां यथा—'विदूषकः—भो वअस्स, को एसो कामो ? जेण तुमं पि दूमिज्जसे ।सो किं पुरिसो आदु इत्थिअ त्ति । ('भो वयस्य ! क एष कामो येन त्वमपि दूयसे । स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।') राजा—सखे !—

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में 'यह राजा दुष्यन्त के समान'—[सूत्रधार के इस प्रयोगातिशय से दुष्यन्त का प्रवेश सूचित किया गया है] ।

अब **वीथी के अङ्गों** [का निरूपण करते हैं]—

१. उद्घात्यक, २. अवलगित, ३. प्रपञ्च, ४. त्रिगत, ५. छल, ६. वाक्केलि, ७. अधिबल, ८. गण्ड, ९. अवस्यन्दित, १०. नालिका, ११. असत्प्रलाप, १२. व्याहार, १३. मृदव—ये तेरह वीथी के अङ्ग हैं ॥ १२-१३ ॥

१. उनमें **उद्घात्यक** [नामक वीथी के प्रथम अंग का लक्षण करते हैं]—

गूढ़ार्थ पद की पर्यायमाला [क्रम से एक के बाद दूसरे पद का आना] अथवा प्रश्नोत्तर शृंखला [=प्रश्नों का ताँता] के द्वारा जो दो व्यक्तियों की बातचीत होती है उसे 'उद्घात्यक' कहते हैं । वह उद्घात्यक दो प्रकार का होता है ॥ १३-१४ ॥

अर्थात् दो पात्रों की उक्ति प्रत्युक्ति में १. गूढ़ अर्थ वाले पदों अथवा उनकी पर्यायों की माला किंवा २. प्रश्नोत्तर की माला के भेद से—वह उद्घात्यक दो प्रकार का होता है । उनमें से प्रथम उद्घात्यक का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' में इस प्रकार है—'**विदूषक**—यह काम कौन है ? जिससे तुम भी दुखी हो रहे हो । क्या यह कोई पुरुष है अथवा स्त्री ? **राजा**—

मित्र ! मन से ही इसकी उत्पत्ति होती है अतः मन ही इसकी जाति है । यह स्वच्छन्द रहता है और सुख में ही इस पर चला जाता है । स्नेह के इस प्रकार के ललित मार्ग को ही 'काम' कहा जाता है ।

विदूषकः—एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि ।') राजा—वयस्य, इच्छाप्रभवः स इति । विदूषकः—किं जो जं इच्छदि सो तं कामेदित्ति । ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति ।') राजा—अथ किम् । विदूषकः—ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि । ('तज्ज्ञातम् यथाऽहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि ।')

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

'का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥'

अथावलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ॥ १४ ॥
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।

विदूषक—इस प्रकार [समझाने पर] भी मैं नहीं समझा । **राजा**—मित्र वह इच्छा से उत्पन्न होता है । **विदूषक**—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके लिए काम ही हो जाएगा ? **राजा**—और क्या । **विदूषक**—अच्छी बात है । तब तो मैं जान गया । भोजनालय में मेरी भोजन करने की इच्छा का होना भी काम ही है ।

परिष्कार—विक्रमोर्वशीय का प्रस्तुत अंश किसी भी प्रति में प्राप्त नहीं है । कुछ विद्वानों के अनुसार यह सम्भवतः 'मालतिका' नामक अप्राप्त वीथी से उद्धृत है ।

[प्रश्नोत्तर में वार्तालाप रूप] द्वितीय उद्घात्यक का उदाहरण 'पाण्डवानन्द' में इस प्रकार है—

'गुणीजन किस वस्तु के होने से श्लाघनीय समझे जाते हैं ? 'क्षमा' । अनादर किसे कहते हैं ? 'जो अपने कुल वालों के द्वारा किया जाय ।' दुःख किसे कहते हैं ? 'दूसरे के वश में रहना ।' संसार में कौन प्रशंसनीय है ? 'जो विपत्ति में पड़े लोगों को आश्रय दे ।' मृत्यु किसे कहते हैं ? 'व्यसनों में फँसे रहने को ।' चिन्तारहित कौन है ? 'जिसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है ।' उपर्युक्त तथ्यों से युक्त कौन पुरुष है ? 'विराट् नगर में गुप्त रूप से रहने वाले पाँचों पाँण्डव-पुत्र ।'

२. अब **अवलगित** [नामक वीथी के द्वितीय अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

१. जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से [अथवा एक कार्य के बहाने से विवक्षित प्रयोजन वाला] दूसरा कार्य सिद्ध हो जाय अथवा २. प्रस्तुत अन्य हो किन्तु अन्य कार्य सिद्ध हो जाय वह 'अवलगित' है । और, वह अवलगित दो प्रकार का होता है ॥ १४-१५ ॥

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्यैऽनु प्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः । द्वितीयं यथा छलितरामे—'रामः—लक्ष्मण, तात-वियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि । तदवतीर्य गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥'

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ॥

अथ प्रपञ्चः—

[1]असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥ १५ ॥

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः । यथा कर्पूरमञ्जर्याम् [१.२३]—'भैरवानन्दः—

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ[2] रम्मो ॥'

उनमें से पहले का उदाहरण इस प्रकार है—जैसे 'उत्तररामचरित' में गर्भवती सीता के मन में वन विहार की इच्छा उत्पन्न होने पर सीता के इच्छा [दोहद] रूप कार्य के बहाने से जनापवाद के कारण सीता को वन में छोड़ देना [अवलगित है] । द्वितीय प्रकार का अवलगित—जैसे 'छलितराम' नामक नाटक में—'राम—हे लक्ष्मण ! पिता जी से शून्य अयोध्या में मैं विमान पर बैठा हुआ नहीं जा सकता हूँ । अतः उतर कर चलूँगा ।

[अरे यहाँ तो] सिंहासन के नीचे पादुकाओं के सामने जटा धारण किए हुए, अक्ष, माला युक्त और चामर युक्त सा यह कोई व्यक्ति विराजमान है ।'

इस प्रकार [विमान से उतरकर चलने में] भरत-दर्शन रूप अन्य कार्य की सिद्धि हो जाती है ।

३. अब **प्रपञ्च** [नामक वीथी के तृतीय अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

परस्पर के हास्यकारी मिथ्या संस्तव को 'प्रपञ्च' कहते हैं ॥ १५ ॥

असद्भूत [अर्थात् निन्दनीय] परदाराभिगमन आदि के नैपुण्य के द्वारा की गई जो एक दूसरे की स्तुति हास्य का कारण है उसको 'प्रपञ्च' कहते हैं । जैसे 'कर्पूरमञ्जरी' में 'भैरवानन्द—

उत्कट [कामवेग वाली] वेश्याएँ [जिस धर्म में] दीक्षाप्राप्त धर्मदारा [समझी जाती] हैं, मद्य और मांस [स्वेच्छापूर्वक] खाया-पीया जाता है । [जिस धर्म में] भिक्षा ही भोजन है, और चर्म का टुकड़ा ही शय्या है—ऐसा कौल [वाममार्गी संप्रदाय का] धर्म किसको सुन्दर [आकर्षित करने वाला] नहीं लगता है ?'

---

१. 'असद्भूतमिथः स्तोत्रं' इति वा पाठः । २. 'भाद्रि' इति वा पाठः । 'भाति' इतिच्छाया ।

('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च ।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः ॥'

अथ त्रिगतम्—

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥ १६ ॥

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।
कैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥' [विक्रमो० १.३]

अथ छलनम्—

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम्[1] ।

परिष्कार—इसमें कौल धर्म के अनुयायी किसी साथी का उपहास करते हुए उसमें परदाराभिगमन आदि दिखलाकर उसकी हास्यकर-स्तुति की गई है । अतः यह 'प्रपञ्च' का उदाहरण है ।

४. अब **त्रिगत** [नामक वीथी के चतुर्थ अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

शब्द की समानता के कारण अनेक अर्थों की कल्पना करना यहाँ 'त्रिगत' कहा गया है । नट आदि [सूत्रधार, नटी और परिपार्श्वक] तीनों के वार्तालाप को भी 'त्रिगत' कहा गया है । किन्तु वह तो पूर्वरंग में ही अभीष्ट है ॥ १६ ॥

जैसे 'विक्रमोर्वशीय' में—

'क्या यह फूलों का रस पीकर मदोन्मत्त भ्रमरों का गुञ्जार है अथवा कोयलों की गम्भीर ध्वनि है किंवा देवगण के द्वारा सब ओर से सेवित कैलास पर किन्नरियाँ रमणीय एवं मधुर अक्षर में गा रही हैं ?'

परिष्कार—[क] विक्रमोर्वशीय के प्रस्तुत पद्य में अप्सराओं के संगीत को सुनकर राजा के द्वारा शब्द साम्य के आधार पर भ्रमर का गुञ्जार और कोयल की मस्तानी कूक की योजना करना 'त्रिगत' का उदाहरण है । [ख] प्रस्तुत पद्य विक्रमोर्वशीय की कुछ प्रतियों में प्राप्त है, कुछ में नहीं ।

५. अब **छलन** [नामक वीथी के पाँचवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

ऊपर से देखने में प्रिय लगने वाले किन्तु अप्रिय वाक्यों द्वारा लुभा करके छलने [=ठगने] का नाम 'छलन' है ॥

---

१. 'छलना' इति वा पाठः ।

यथा वेणीसंहारे [५.२६]—'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥'

अथ वाक्केली—

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥ १७ ॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनम्=वाक्केली । द्विस्त्रिर्वा उक्ति-प्रत्युक्तयः । तत्राद्या यथोत्तरचरिते—'वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥' [उत्तर० ३.२६]

जैसे 'वेणीसंहार' में भीम और अर्जुन—

'[हम पाण्डवों के साथ] द्यूत का छल [करके हमारा राज्य अपहरण] करने वाला, लाख के घर [में बन्द करके हम सब] को जलाने वाला, दुःशासन आदि का वह अभिमानी राजा, सौ भाइयों का गुरु [ज्येष्ठ भाई], अङ्गराज [कर्ण] का मित्र, द्रौपदी के केश और वस्त्रों का अपहरण कराने में पटु और [अधिक क्या कहें] पाण्डव जिसके 'दास' हैं वह दुर्योधन अब कहाँ है, बतलाओ, हम दोनों [अर्थात् अर्जुन और भीम] क्रोध से [उसे मारने के लिए] नहीं; केवल मिलने के लिए आए हैं ।'

६. अब **वाक्केलि** [नामक वीथी के छठवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाना या उसे बदल देने को 'वाक्केलि' कहते हैं; अथवा दो तीन व्यक्तियों की [हास्ययुक्त] उक्ति-प्रयुक्ति को भी वाक्केलि कहते हैं ॥ १७ ॥

'अस्य' अर्थात् जिज्ञासा वाले साकाङ्क्ष [अपरिमित] वाक्य के वापस कर लेने को [अर्थात् कहते-कहते रोक लेने को] 'वाक्केलि' कहते हैं; अथवा दो तीन बार उक्ति-प्रयुक्ति करना 'वाक्केलि' है । उनमें से प्रथम का उदाहरण 'उत्तररामचरित' में इस प्रकार है [जिसमें सीता के साथ किए गए राम के बर्ताव का साकाङ्क्ष वर्णन है] '**वासन्ती**—

तुम [=सीता] मेरी प्राणस्वरूप हो, तुम ही मेरा दूसरा हृदय हो, तुम नेत्रों के लिए कौमुदीरूप और अङ्गों के लिए अमृतरूप हो । इस प्रकार के सैकड़ों प्रिय वचनों से उस भोली [सीता] को आश्वासन देकर अब उसको [तुमने घर से निकाल दिया । इस बात को वासन्ती आगे कहना चाहती है, किन्तु उसको बीच में ही रोक देती है] अथवा चुप रहो उसके आगे कहने से क्या लाभ ?'

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम् [पृ० ३०]—

'विदूषकः—भोदि मअणिए, मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि । ('भवति मदनिके ! मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका—हदास, ण क्खु एसा चच्चरी । दुवदिखण्डअं क्खु एदम् । ('हताश, न खल्वेषा चर्चरी । द्विपदीखण्डकं खल्वेतत् ।') विदूषकः—भोदि, किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअंति । ('भवति, किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते ?') मदनिका—णहि । पढीअदि क्खु एदम् । ('नहि । पठ्यते खल्वेतत् ।') इत्यादि ॥

अथाधिबलम्—

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।

यथा वेणीसंहारे—'अर्जुनः—

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः ॥ [वेणी० ५.२७]

इत्युपक्रमे 'राजा—अरे, नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु,—

उक्ति-प्रत्युक्ति के मध्य होने वाली वाक्केलि का उदाहरण 'रत्नावली' में इस प्रकार है—

विदूषक—मदनिके ! मुझे भी यह चर्चरी [राग] सिखा दो । **मदनिका**—मूर्ख, इसे चर्चरी नहीं कहते; यह तो द्विपदी-खण्ड [राग] है ।

विदूषक—अजी तो क्या इस खण्ड [खाड़, शक्कर] से लड्डू बनाए जाते हैं ?

मदनिका—नहीं, इसे तो पढ़ा जाता है । इत्यादि [उक्ति-प्रत्युक्ति में हुई हास्य युक्त वाक्केलि का वर्णन है] ।

७. अब **अधिबल** [नामक वीथी के सातवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

दो व्यक्तियों का एक दूसरे की अपेक्षा बढ़-चढ़कर स्पर्धा के साथ बात करना 'अधिबल' कहलाता है ॥

जैसे 'वेणीसंहार' में—'**अर्जुन** [धृतराष्ट्र और गान्धारी के सामने अपना परिचय देते हुए कहते हैं]—

जिसके ऊपर आपके पुत्रों ने सारे शत्रुओं को विजय करने की आशा लगाई हुई थी, और जिसके अभिमान के कारण सारे संसार को तृण के समान तिरस्कृत किया था, उस राधासुत [कर्ण] को युद्धभूमि में मारने वाला यह मध्यम पाण्डव [अर्जुन] आप दोनों के चरणों में प्रणाम करता है ।'

इत्यादि से आरम्भ करके '**राजा**—अरे, मैं तुम्हारी तरह आत्मप्रशंसा करने में चतुर नहीं हूँ । किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥' [वेणी० ५.३४]
इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम् ॥

अथ गण्डः—

गण्डः प्रस्तुतसंबन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥ १८ ॥

यथोत्तरचरिते—'रामः—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो–
रसावस्याः स्पर्शे वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ [उत्तर० १.३८]

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव, उअत्थिदो । ('देव उपस्थितः ।') रामः—अयि, कः ? । प्रतीहारी—देवस्स आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो ।' (देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः ।') ॥

तेरे बान्धव लोग शीघ्र ही, मेरी गदा से टूटी हुई छाती की अस्थियों की माला से भयंकर आभूषणों से युक्त तुझ [भीम] को युद्ध-भूमि में सोता हुआ देखेंगे ।'

यहाँ तक चलने वाले भीम और दुर्योधन की परस्पर बढ़-चढ़ कर बात प्रदर्शित की जाने से 'अधिबल' है ।

['सकलरिपु' और 'द्रक्ष्यन्ति' आदि दोनों श्लोक दश० १.४७ और १.४६ में भी उद्धृत हैं]।

८. अब **गण्ड** [नामक वीथी के आठवें अंग का निरूपण करते हैं]—

प्रकृत विषय से सम्बद्ध किन्तु उस प्रकृत से भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले अकस्मात् कहे गए वाक्य को 'गण्ड' कहते हैं ॥ १८ ॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में राम सीता के विषय में इस प्रकार कहते हैं—'**राम**—यह [सीता] घर में लक्ष्मी [के समान] है, यह नेत्रों के लिए अमृत की शलाका [के समान सुखद] है, इसका यह शीतल स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन रस के लेप [के समान] है, इसका यह बाहु गले में शीतल और चिकना हार है, इसका कौन सा भाग प्रिय नहीं है [अर्थात् सब कुछ ही प्रिय है], किन्तु यदि कुछ असह्य है तो वह इसका वियोग ।

(प्रविष्ट होकर) **प्रतीहारी**—देव ! आ गया । **राम**—अरे कौन आ गया ? **प्रतीहारी**—आपका निकटवर्ती सेवक दुर्मुख ।'

परिष्कार—इस संवाद में अन्य अभिप्राय से युक्त [अर्थात् दुर्मुख के आगमन की सूचना देने के अभिप्राय से कहा गया] भी प्रतीहारी का वचन "यदि परमसह्यस्तु विरहः" उस प्रस्तुत राम के वचन के साथ मिल जाने से 'गण्ड' नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण बन गया है ।

अथावस्यन्दितम्—

रसोक्तस्यान्यथाः व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ।

यथा छलितरामे—'सीता—जाद, कल्लं क्खु तुम्मेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं । तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो । ('जात ! कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यम् । तत्र स राजा विनयेन नमितव्यः ।') लवः—अम्ब, किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ? सीता—जाद, सो क्खु तुम्हाणं पिदा । ('जात, स खलु युवयोः पिता ।') लवः—किमावयोः रघुपतिः पिता ? । सीता—(साशङ्कम्) जाद, ण क्खु परं तुम्हाणं । सअलाए ज्जेव्व पुहवीए ।' ('जात न खलु परं युवयोः । सकलाया एव पृथिव्याः ।') इति ॥

अथ नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥ १९ ॥

यथा मुद्राराक्षसे—'चरः—हंहो बम्हण, मा कुप्प । किं पि तुह उवज्झाओ जाणादि । किं पि अम्हारिसा जणा जाणन्ति । ('हंहो ब्राह्मण, मा कुप्य । किमपि तवोपाध्यायो जानाति । किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति ।') शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि ? चरः—यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव, कस्स चंदो अणभिप्पेदो त्ति । ('यदि ते उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति ।' शिष्यः—'किमनेन ज्ञातेन भवति ।' इत्युपक्रमे 'चाणक्यः—चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि ।' इत्युक्तं भवति ।' इति ॥

---

९. अब **अवस्यन्दित** [नामक वीथी के नवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

स्वभावतः कहे हुए वचन का जहाँ दूसरे प्रकार से अर्थ समझा दिया जाय वह 'अवस्यन्दित' है ॥

जैसे 'छलितराम' नामक नाटक में—**सीता**—हे पुत्रो ! कल सबेरे तुम दोनों अयोध्या जाना और उस राजा को विनयपूर्वक प्रणाम करना । **लव**—माताजी ! क्या हम दोनों को राजाश्रित बनना होगा ? **सीता**—वे तुम दोनों के पिता हैं । **लव**—क्या रघुपति हम दोनों के पिता हैं ? **सीता**—(आशंकापूर्वक) केवल तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथ्वी के [वह पिता हैं] ।

१०. अब **नालिका** [नामक वीथी के दसवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

हास्य से युक्त निगूढार्थ वाली पहेली को ही नालिका कहते हैं ॥ १९ ॥

जैसे 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में—'**चर**—हे ब्राह्मण, क्रोध मत करो। कुछ तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं, [तो] कुछ मेरे जैसे लोग भी जानते हैं । **शिष्य**—(ऐसा कह कर) क्या हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता का अपहरण करना चाहते हो ? **चर**—यदि तुम्हारे उपाध्याय सब कुछ जानते हैं, तो जान लें कि चन्द्रमा [चन्द्र] किसको अच्छा नहीं लगता । **शिष्य**—इसके जानने से क्या होता है ?'—ऐसा उपक्रम होने पर—'**चाणक्य**—इस कथन से यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त से विद्रोह करने वाले व्यक्तियों को [मैं] जानता हूँ ।'

अथाऽसत्प्रलापः—

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो [1]यथोत्तरः ।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः । तन्न—उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावः । यथा—

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराम्यासूक्ततो वासुके-
रङ्गुल्या विषकर्बुरान् गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान् ।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः[2] श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ॥'

यथा च—

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥' [विक्रमो० ४.३३]

---

११. अब **असत्प्रलाप** [नामक वीथी के ग्यारहवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

प्रायः एक के बाद दूसरी असम्बद्ध बेसिर-पैर की बात से युक्त कथन को 'असत्प्रलाप' कहते हैं ॥

शंका यह होती है कि असम्बद्ध अर्थ वाली बात होने पर तो असङ्गति नामक वाक्य दोष कहा गया है तो फिर असत्प्रलाप का प्रयोग कैसे उचित है । यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि स्वप्न में बर्राते हुए की, पागल की उन्मत्त की, और शिशु आदि की कही हुई विभावरूप ऊटपटाँग बातें ही इसमें आती हैं ।

जैसे [प्रस्तुत श्लोक में बालक कार्तिकेय की बाललीला का स्वाभाविक असम्बद्ध प्रलाप वर्णित है]—

'भगवान् शंकर के गले में लटकते हुए वासुकि सर्प के प्रकाशमान मुँह में हाथ डाल कर मुख को फैलाकर विष से चित्रित दांत के अकुँरों को अंगुली से छू-छू कर एक, तीन, नौ, आठ, सात, छः—इस प्रकार गिनते हुए क्रौंच के शत्रु कार्तिकेय जी की संख्या के क्रम से विहीन एवं बाल्यावस्था की तोतली बोली आप लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि करे ।'

और जैसे ['विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी के विरह में उन्मत्त पुरुरवा का असम्बद्ध प्रलाप इस प्रकार है]—

'हे हंस ! मुझे मेरी प्रिया को लौटा दो, उसकी चाल को तुमने चुरा लिया है क्योंकि जिसके पास से चोरी का सामान का कुछ भी हिस्सा बरामद होता है तो वह पूरी-चीज का देनदार होता है ।'

---

१. 'यथोत्तरम्' इत्यपि पाठः । २. 'शक्तिधरस्य शैशवकलाः' इति वा पाठः ।

यथा वा—

'भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥'

अथ व्याहारः—

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥ २० ॥

यथा मालविकाग्निमित्रे [पृ० २८-३०] लास्यप्रयोगावसाने-'(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) विदूषकः—मा दाव । उवएससुद्धा गमिस्ससि ।' ('मा तावत् । उपदेश द्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे 'गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य, उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः । विदूषकः—पढमं पच्चूसे बम्हणस्स पूआ भोदि । सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते) ।' ('प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति । सा तया लङ्घिता ।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः ॥

अथ मृदवम्—

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

अथवा, जैसे—

'मैंने पर्वतों को खा लिया है, मैंने अग्नि में स्नान भी किया है, मैंने आकाश पीया है, इसके अलावा ब्रह्मा, विष्णु और शिव मेरे पुत्र हैं, इसीलिए मैं [खुशी में] नाच रहा हूँ ।'

१२. अब **व्याहार** [नामक वीथी के बारहवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

जिसका प्रयोजन कुछ और ही होता हो ऐसे हास्य-पूर्ण एवं लोभजनक [=हास्य के क्रम को बढ़ाने वाले] वचन को 'व्याहार' कहते हैं ॥ २० ॥

जैसे 'मालविकाग्निमित्र' में लास्य के प्रयोगानन्तर 'मालविका जाना चाहती है, [उसको जाते देख विदूषक कहता है]—

विदूषक—अभी नहीं, थोड़ी देर रुककर उपदेश सुनकर जाओ'—यहाँ से आरम्भ करके [गणदास और विदूषक के उत्तर-प्रत्युत्तर पर्यन्त 'व्याहार' वचन है] ।

'गणदास—[विदूषक के प्रति] आर्य ! यदि आपने इनके इस कार्य में कोई क्रम-भेद पाया हो तो कहिए ।

विदूषक—सर्वप्रथम प्रातःकाल ब्राह्मण की पूजा का विधान है । उसी का इन्होंने उल्लंघन किया है । (मालविका मुस्कराती है)'—इत्यादि हास्य और लोभकारी वचनों के प्रयोग के द्वारा मुख्यतः नायक को विश्रब्ध [=स्वभावतः खड़ी] नायिका का दर्शन कराना ही 'व्याहार' है ।

१३. अब **मृदव** [नामक वीथी के तेरहवें अङ्ग का निरूपण करते हैं]—

जहाँ दोष को गुण और गुण को दोष बतलाया जाय वहाँ 'मृदव' होता है ॥

यथा शाकुन्तले—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥' [शाकु० २.५]

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः ।

यथा च—

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥'

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।

उभयं वा—

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥'

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में [सेनापति मृगया की प्रशंसा इस प्रकार करते हैं]—

'आखेट से चर्बी घट जाती है, तोंद छोटी हो जाती है, शरीर हल्का और फुर्तीला तथा परिश्रम के योग्य हो जाता है, भय तथा क्रोध के समय भिन्न-भिन्न विकारों से युक्त जंगली जन्तुओं की मनःस्थिति का भी ज्ञान होता है और धनुर्धारियों के लिए यही विशेषता की बात होती है कि भागते हुए निशाने पर भी उनका बाण सफल हो । लोग व्यर्थ में ही आखेट को बुरा कहते हैं भला इतना मनोविनोद और कहाँ मिल सकता है ?'

इस प्रकार मृगया के दोषों का गुणरूप में वर्णन [मृदव] है ।

और भी जैसे—

'यह विजय का इच्छुक राजा ऐसा जीवन व्यतीत करता है जिसमें मन निरन्तर अशान्त बना रहता है, हजारों कठिनाइयों से भरे रहने के कारण बड़ा ही क्लेशमय रहता है, निद्रा आती ही नहीं तथा किसी पर विश्वास भी नहीं होता ।'

इस प्रकार राज्य [=राजा] के गुणों का दोष के रूप में वर्णन [मृदव] है ।

अथवा [दोष का गुण के रूप में और गुण का दोष के रूप में] एक साथ [वर्णन का उदाहरण इस प्रकार है] जैसे—

'उत्तम कार्यों के करने के अभ्यासी सज्जन पुरुष लोकापवाद के भय से यन्त्रणाग्रस्त और सदा कष्ट में रहते हैं । किन्तु उचित-अनुचित के विचार से रहित, इसलिए की हुई भलाई-बुराई से व्याकुल न होने वाले मूर्ख साधारण लोग धन्य हैं ।'

इति प्रस्तावनाङ्गानि ॥

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१ ॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

तत्र—

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥ २२ ॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥ २३ ॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागविसंवादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायण-महाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यत् तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २४ ॥

इस प्रकार प्रस्तावना के सोलह अङ्गों का निरूपण किया गया ।

इन [प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख आदि] में किसी एक के द्वारा कथावस्तु अथवा पात्र को सूचित करके सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त में [रङ्गमंच से] चला जाए और तब नाटक की कथावस्तु के अभिनय का प्रपञ्च होना चाहिए ॥ २१-२२ ॥

उस [नाटक] में—

जिस [कथावस्तु] में [नायक] उत्कृष्ट [अभिगम्य=सेवनीय, या रमणीय] गुणों से युक्त, धीरोदात्त, प्रतापी, कीर्ति की इच्छा पूरा करने वाला हो, बड़ा ही उत्साही हो, तीनों वेदों का रक्षक हो, पृथ्वी का पालक और प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न या तो कोई राजर्षि अथवा दिव्य [स्वर्गीय] पुरुष हो, ऐसे इतिहास-प्रसिद्ध [=प्रख्यात] इतिवृत्त का अधिकारिक कथावस्तु के रूप में विधान करना चाहिए ॥ २२-२४ ॥

जिस इतिवृत्त में सत्यवादिता, वाणी एवं कर्म में सारूप कौटिल्यरहित तथा नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध उत्कृष्ट गुणों आदि से युक्त, रामायण महाभारत आदि [अर्थात् पुराण] में प्रसिद्ध धीरोदात्त राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष नायक होता है । उस इतिहास–प्रसिद्ध कथानक को ही यहाँ नाटक में प्रधान [= अधिकारिक] कथावस्तु रूप में विधान करना चाहिए ।

परिष्कार :-नृप के लिए अभिगम्य गुण ये हैं—

तेजो बलं सत्त्ववत्ता प्रभावः प्राप्तकालता ।
अधृष्यस्य गुणानेतान्नृपस्य मनवो विदुः॥
कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता ।
इत्यादयोऽभिगम्यस्य राज्ञो गुणाः .....॥

उस [प्रख्यात इतिवृत्त] में जो कुछ नायक के लिए अनुचित हो अथवा जो कुछ

विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः । वीरचरिते तु रावण-सौहृदेन वाली सम्बधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥
खण्डशः सन्धिसंज्ञांस्तान् विभागानपि खण्डयेत् ।
चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीति—

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोप-कल्पितबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञाया सन्धीनां विभागान् कुर्यात् ।

अपरं तथा ॥ २६ ॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।

[नाटकीय] रस के विरुद्ध हो, उसे छोड़ देना चाहिए ; अथवा [यदि उसे वर्णन करने की इच्छा ही हो तो] उसकी अन्य रूप में कल्पना कर लेनी चाहिए ॥ २४-२५ ॥

जैसे मायुराज के द्वारा 'उदात्तराघव' नामक नाटक में [राम के द्वारा] छल से बालिवध करने का वृत्तान्त छोड़ दिया गया है। और 'महावीरचरित' में तो [कवि ने इस प्रकार से वर्णन किया कि] रावण की मित्रतावश राम के वध के लिए आए हुए बालि का वध राम के द्वारा कर दिया गया है—इस प्रकार [यहाँ पर कथा को ही] अन्यथा [=परिवर्तित] करके वर्णित किया गया हैं ।

इस प्रकार [नाटक की रचना करते समय] आदि और अन्त का निश्चय करके उस [अधिकारिक] कथा को पाँच भागों में विभक्त करके उन सन्धिसंज्ञक प्रत्येक भागों को भी अनेक खण्डों [अर्थात् सन्ध्यङ्गों] में विभक्त कर दे । इस प्रकार उस आधिकारिक कथावस्तु के चौसठ अङ्ग हो जाते हैं ॥२५-२६॥

कारिकागत भाव यह है कि जब नायक के अनौचित्य तथा रस विरोध के परिहार से नाटकीय कथावस्तु शुद्ध हो जाय और जब कवि उसमें सूच्य एवं दृश्य का विभाग कर ले [अर्थात् कथावस्तु के किन तत्त्वों को उसे रङ्गमंच पर प्रदर्शित करना है और किन तत्त्वों को नहीं प्रदर्शित करना है—यह विभाग कर ले] तब कथावस्तु में उसी के फल के अनुसार नाटकार बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों की कल्पना करे; इस प्रकार की उपकल्पित कथावस्तु को पाँच कार्यावस्थाओं [आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति एवं फलागम] के अनुकूल [मुखसन्धि, आदि] पाँच भागों में बाँट दे । पुनः एक-एक भाग के बारह-तेरह अथवा चौदह 'अङ्ग' संज्ञक विभाग सभी सन्धियों के करने चाहिए । [अर्थात् प्रथम प्रकाश में वर्णित सन्ध्यङ्ग की कल्पना करनी चाहिए] ।

इसी प्रकार पताका [नामक] उस [प्रासङ्गिक इतिवृत्त] में भी [प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा] एक आदि अनुसन्धियों की न्यूनता रखनी चाहिए और इसमें यथाप्राप्त

अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धि प्रकरीं न्यसेत् ॥ २७ ॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि । प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम् ।

तत्रैवं विभक्ते—

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इयमत्र कार्ययुक्तिः—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥ २८ ॥
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद् विष्कम्भकं तदा ।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ २९ ॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

सन्ध्यङ्गों का भी विन्यास करना चाहिए । किन्तु प्रकरी [नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त के भेद] को सन्धि-रहित ही उपन्यस्त करना चाहिए ॥२६-२७॥

दूसरे अर्थात् [आधिकारिक इतिवृत्त से भिन्न] प्रासङ्गिक इतिवृत्त को भी एक आदि अनुसन्धियों से न्यून होना चाहिए अर्थात् प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियों से न्यून करके पताका नामक इतिवृत्त को उपन्यस्त करना चाहिए; और उसमें उन्हीं अङ्गों का विन्यास करना चाहिए जो स्वयं प्राप्त हों और प्रधान-इतिवृत्त से जिनका विरोध न हो । [प्रासङ्गिक इतिवृत्त के अन्य भेद] प्रकरी का तो सन्धि-रहित [=अपरिपूर्ण] ही विधान करना चाहिए ।

परिष्कार—'अनुसन्धि' कहने का कारण नाट्यशास्त्र में इस प्रकार दिया गया है—

एकोऽनेकोऽपि वा सन्धिः पताकायां तु यो भवेत् ।
प्रधानार्थानुयायित्वाद् 'अनुसन्धिः' प्रकीर्त्यते ॥[ना०शा०१९.२८]

यतः पताका नामक इतिवृत्त की सन्धियाँ अधिकारिक इतिवृत्त का अनुसरण करती हैं अतः उन्हें 'अनुसन्धि' कहा जाता है ।

तब इस प्रकार इतिवृत्त का विभाग कर लेने पर—

[नाटक के] आरम्भ में कवि कार्य के औचित्य [=कार्य के समायोजन] के अनुसार या तो विष्कम्भक की योजना करे या अङ्क की ॥

इस सन्दर्भ में कार्य की युक्ति यह है कि—

[कवि] जब निरस किन्तु [नाटकीय वस्तु को गति प्रदान करने में] आवश्यक वस्तु विस्तार को छोड़कर शेष भाग को [रङ्गमञ्च पर] दिखलाना चाहे तब [उस नीरस वस्तु की सूचना देने के लिए] विष्कम्भक का विधान करना चाहिए । किन्तु प्रारम्भ से ही जब सरस कथावस्तु की प्रवृत्ति हो जावे; तब प्रथमतः आमुख [=प्रस्तावना] का विधान करके बीज आदि से आक्षिप्त अङ्क का ही विधान कर देना चाहिए ॥२८-३०॥

स च—

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥ ३० ॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजन-संविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः ।

तत्र च—

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥ ३१ ॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

अङ्गिन इत्येवाङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात् स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम् । गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः ।

परिष्कार—(क) कथासूत्र को जोड़ने के लिए आवश्यक किन्तु नीरस वस्तु की सूचना नाटक के प्रारम्भ में विष्कम्भक द्वारा दी जाती है जैसे 'रत्नावली' नाटिका में यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक है । (ख) किन्तु कथावस्तु के सरस होने के कारण शाकुन्तल में आमुख [=प्रस्तावना] के बाद ही अङ्क प्रारम्भ हो गया है ।

और वह [अङ्क विष्कम्भक से इस प्रकार भिन्न है]—

इसमें नायक के चरित्र का प्रत्यक्षरूप से वर्णन किया जाता है, तथा बिन्दु नामक अर्थप्रकृति व्याप्त रहती है । यह अङ्क नानाप्रकार के नाटकीय प्रयोजन, उनके संविधान एवं रस का आश्रय होता है ॥ ३०-३१ ॥

रङ्गमञ्च पर पात्र के प्रवेश हो जाने पर [अङ्क में] नायक के व्यापार [=कार्य] का निर्देश साक्षात् रूप से किया जाता है । यह बिन्दु के उपक्षेप रूप अर्थ से परिमित; अनेक प्रकार के प्रयोजन, संविधान एवं रसों का गोद [=उत्सङ्ग] के समान आधार होने से अङ्क [=गोद] होता है ।

परिष्कार—इसके अङ्क नामकरण का तात्पर्य यह है कि जैसे उत्सङ्ग [=गोद] किसी बच्चे के बैठने के लिए आश्रय होता है, वैसे ही यह [=अङ्क] भी रसों आदि के बैठने [=रहने] के लिए आश्रय होता है ।

और, उस (अङ्क) में कवि को चाहिए कि—

अनुभाव, विभाव तथा रसों के स्थायीभाव एवं व्यभिचारीभावों के द्वारा प्रधान रस का परिपोषण करे किन्तु यह परिपोषण कभी भावों का ग्रहण करते हुए और कभी [परिपुष्ट हो जाने पर] उन्हें छोड़ते हुए करना चाहिए ॥ ३१-३२ ॥

कारिकागत 'अङ्गिनः' इस पद से अङ्गी रस के साथ ही साथ उसके स्थायी भाव का भी ग्रहण हो जाता है । अतः कारिकागत 'स्थायिना' इस पद से अन्य [अङ्गी से भिन्न] रस के स्थायी भाव का भी ग्रहण होता है । 'गृहीतमुक्तैः' पद का तात्पय 'परस्पर मिलने से बचाए गए' है ।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥ ३२ ॥
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलंकारलक्षणैः ।

कथासंध्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः ।

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा ॥ ३३ ॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, **तन्न**—यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम् । केवल-स्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव ।

दूराध्वानं वधं युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम् ॥ ३४ ॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।

[और, उस अङ्क में कवि को चाहिए कि]—

अनुभाव, विभाव तथा रसों के स्थायी भाव एवं व्यभिचारी भावों के द्वारा प्रधान रस का परिपोषण करे । किन्तु यह परिपोषण कभी भावों का ग्रहण करते हुए और कभी [परिपुष्ट हो जाने पर] उन्हें छोड़ते हुए करना चाहिए ॥ ३२-३३ ॥

कथा, सन्ध्यङ्ग, उपमा आदि अलंकार तथा [भरतोक्त बत्तीस] भूषण आदि नाट्य लक्षणों से [रस को] तिरोहित नहीं करना चाहिए ।

नाटक में प्रधानता एक ही रस की होनी चाहिए चाहे वह शृंगार हो अथवा वीर और अन्य सभी रसों को अंग रूप में उपनिबद्ध करना चाहिए । निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का समावेश होना चाहिए ॥ ३३-३४ ॥

अब **शंका** यह होती है कि जब पहले ही [इकतीसवीं कारिका में] 'रसान्तरस्थायिना' इस पद से ही "अन्य रस प्रधान-रस के अङ्ग होते हैं"—की बात स्पष्ट रूप से कह दी गई तो फिर यहाँ ["एक रस प्रधान होता और दूसरे रस गौण होते हैं"—के] कहने की क्या आवश्यकता है ? यह तो पुनरुक्ति दोष है । **उत्तर**—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि दोनों उक्तियों में भेद इस प्रकार है—१. जहाँ पर यह कहा गया है कि 'एक ही रस प्रधान हो' वहाँ पर उसका आशय यह है कि 'यदि प्रधान रस से भिन्न अन्य रस का [स्थायी भाव अपने अनुभाव, विभाव और व्यभिचारी भावों के साथ अपेक्षाकृत स्पष्टतः उपनिबद्ध किया जाता है तो वह अप्रधान-रस मुख्य-रस का] अङ्ग होना चाहिए ।' २. किन्तु जहाँ [३१वीं कारिकागत 'स्थायिना' पदोक्त] केवल [अर्थात् अनुभावादिविहीन] स्थायीभाव का निरूपण किया जाता है वहाँ तो वह स्थायीभाव अन्य [=प्रधान] रस के स्थायीभाव का व्यभिचारी भाव ही हो जाता है ।

रङ्गमञ्च के अप्रदर्शनीय स्थल

लम्बी यात्रा, वध, युद्ध, राज्यविप्लव तथा देश विप्लव, राजा से किया गया नगर

[1]अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

अङ्कैर्नैवोपनिबध्नीत, प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत् । आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित् कुर्यात् ।

एकाहाचरितैकार्थ[2]मित्थमासन्ननायकम् ॥ ३६ ॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात् । तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः ।

का घिराव, भोजन, स्नान, रतिक्रीड़ा, उबटन लगाना, वस्त्र धारण करना इत्यादि बातों का प्रत्यक्ष रूप से दिग्दर्शन रंगमञ्च पर नहीं करना चाहिए ॥ ३४-३५ ॥

अर्थात् इनका प्रदर्शन अङ्क के द्वारा नहीं करना चाहिए अपितु प्रवेशक आदि के द्वारा ही सूचित कर देना चाहिए ।

[नाटक में] अधिकारी-नायक के वध का निर्देश कहीं भी नहीं करना चाहिए और न तो आवश्यक कथावस्तु का त्याग ही करना चाहिए ॥

अर्थात् अधिकारी [=प्रधान] नायक के वध की सूचना प्रवेशक आदि के द्वारा भी नहीं देनी चाहिए और यदि आवश्यक प्रतीत हो तो देव-पितृ-कार्य आदि का निर्देश जो आवश्यक कथावस्तु है अवश्य ही कहीं न कहीं कर देना चाहिए ।

अंकों में प्रदर्शनीय वस्तु और पात्र

अंक की योजना ऐसी हो कि एक अंक में प्रयोजन से सम्बन्धित एक ही दिन की कथा होनी चाहिए । साथ ही नायक को भी अंक में अवश्य उपस्थित रखना चाहिए । इसमें नायक के अतिरिक्त तीन या चार पात्रों की ही उपस्थिति होनी चाहिए और इन पात्रों का अंक की समाप्ति पर रंगमञ्च से निर्गमन भी प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ३६-३७ ॥

आशय यह है कि एक अङ्क को एक दिन में समाप्त होने वाले एक प्रयोजन से सम्बद्ध एवं नायक की उपस्थिति से युक्त तथा बहुत से पात्रों के प्रवेश से रहित रूप में उपनिबन्धन करना चाहिए, और उस अङ्क के पात्रों का अङ्क की समाप्ति पर रङ्गमञ्च से अवश्य ही निष्क्रमण करा देना चाहिए ।

---

१. 'अस्त्रस्य' इति वा पाठः ।

२. 'तैः कार्यम्' इति वा पाठः ।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥ ३७ ॥
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रदेशादिपुरस्कृताः ।
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥ ३८ ॥

इत्युक्तं नाटकलक्षणम् ।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥ ३९ ॥
धीरप्रशान्तं सापायं[1] धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥ ४० ॥

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तम् । लोकसंश्रयम्=अनुदात्तम्, अमात्याद्यन्यतमधीप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् । प्रकरणे मन्त्री अमात्य एव । सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति । स्पष्टमन्यत् ।

इसी प्रकार यथोचित स्थान पर पताका स्थानक तथा बीज के ही सदृश अंक के अन्त में बिन्दु को भी रखना चाहिए । इस प्रकार पात्रों का प्रवेश आदि कराते हुए अंकों का संयोजन करना चाहिए ॥ ३७-३८ ॥

नाटक में अङ्कों की संख्या

नाटक कम से कम पांच अंकों का और अधिक से अधिक दस अंकों का होना चाहिए ॥ ३८ ॥

इस प्रकार नाटक के लक्षण का निरूपण समाप्त हुआ ।

२. प्रकरण—

[इसके बाद प्रकरण नामक रूपक के दूसरे भेद का निरूपण करते हैं]—

'प्रकरण' का कथानक [इतिहास प्रसिद्ध न होकर] लौकिक एवं कविकल्पित होता है । मन्त्री, ब्राह्मण तथा वणिक् में से किसी एक को इसका नायक बनाना चाहिए । इसका नायक धीरप्रशान्त होता है; जो विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए धर्म, अर्थ और काम [की सिद्धि] के लिए तत्पर रहता है । शेष सन्धि, प्रवेशक और रस आदि नाटक के ही समान रखना चाहिए ॥ ३९-४० ॥

प्रकरण में कवि की बुद्धि के द्वारा विरचित [अर्थात् कपोल कल्पित] और लौकिक [घटनाओं पर आधारित इतिवृत्त होना चाहिए अर्थात् सम्पूर्ण कथानक उदात्त या लोकोत्तर न होकर] अनुदात्त होना चाहिए, तथा अमात्य आदि में से किसी एक को नायक बनाना चाहिए जो धीरप्रशान्त कोटि का हो; और जिसकी कार्य-सिद्धि विघ्नों से अन्तर्हित [=युक्त] होती है । मन्त्री ही अमात्य होता है । एक विशेष प्रकार का वणिक् ही 'सार्थवाह' होता है । [कारिका का] अन्य अंश स्पष्ट ही है ।

परिष्कार—भरत के नाट्यशास्त्र में प्रकरण का लक्षण इस प्रकार है—

विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
चरितं यन्नैकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ॥ ना. शा. १८.४८ ॥

---

१. 'सोपायं' इति वा पाठः ।

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्व चदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥ ४१ ॥
कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

वेशोः=भृतिः, सोऽस्या जीवनमिति वेश्या । तद्विशेषो **गणिका** । यदुक्तम्—

प्रश्न यह है कि धनञ्जय ने अपनी कारिका में मन्त्री [=सचिव] और सार्थवाह को क्यों नहीं स्थान दिया ?

धनिक इसका उत्तर अपनी वृत्ति में देते हैं कि [मन्त्रणा से युक्त होकर] अमात्य ही मन्त्री हो जाता है। अतः अमात्य और मन्त्री में भेद नहीं है। इसी प्रकार व्यापारियों के ही एक विशेष प्रकार को 'सार्थवाह' कहते हैं। अतः उसका अन्तर्भाव वणिक् में हो जायगा। सार्थवाह का अर्थ है 'पण्यों का आहर्ता' अर्थात् दुकानों में माल सप्लाई करने वाला और 'वणिक्' का अर्थ है देश में एक जगह बैठकर क्रय-विक्रय करने वाला। द्र० ना. शा. १८.४८ पर अभिनवभारती—'सार्थवाहस्तावत् पण्यानामाहर्ता तद्देशक्रय-विक्रयकृतो वणिजोऽन्य एव। द्र० ना. शा. १८-४१-४९। विप्र नायक का उदाहरण मृच्छकटिक है, अमात्य का मालतीमाधव और वैश्य का 'पुष्पभूषित' है। द्र० सा०द० ६.२२४-२५।

प्रकरण में नायक की नायिका दो प्रकार की होती है १. कुलीन स्त्री [=विवाहिता-स्त्री] और २. वेश्या। किसी किसी [प्रकरण] में कुलीन [परिवार में उत्पन्न] स्त्री ही नायक की नायिका होती है [शुद्ध-भेद]; किसी [प्रकरण] में वेश्या [विकृत-भेद]; और किसी में [कुलस्त्री व गणिका] दोनों ही नायिका होती हैं [=संकीर्ण-भेद]। [इन नायिकाओं में घर में ही रहने वाली] कुलस्त्री आभ्यन्तर नायिका होती है तथा [घर के बाहर रहने वाली] वेश्या बाह्य नायिका होती है। [कवि को] इन दोनों के [इस नियम का] उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए [अर्थात् आभ्यन्तर गृहणी की ही तरह कुलस्त्री का और वेश्या का बाह्यरूप से ही वर्णन करना चाहिए]। इस प्रकार इन तीन तरह की नायिकाओं के कारण प्रकरण तीन प्रकार का होता है—[१. कुलस्त्री नायिका से युक्त; २. वेश्या नायिका से युक्त और ३. कुलस्त्री एवं वेश्या दोनों ही नायिकाओं से युक्त]। [इन तीन प्रकारों में तीसरा] संकीर्ण भेद वाला प्रकरण धूर्त, [जुआड़ी, विट और चेटादि] से व्याप्त होता है ॥ ४१-४२ ॥

[वेश्या शब्द का निर्वचन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि—] 'वेशः' अर्थात् वेश के द्वारा 'भृतिः' अर्थात् जो अपना पालन-पोषण करती है [वेशमर्हति वेशेन दिव्यत्या-चरति; वेशेन पण्ययोगेन जीवति वा]। अर्थात् वह वेश ही जिसका जीवन है वह वेश्या है। उन वेश्याओं के एक विशेष भेद को 'गणिका' कहते हैं। जैसा कि [वात्स्यायन के द्वारा कामसूत्र १.३.१७ में] कहा भी गया है—

'आभिरभ्युच्छ्रिता[1] वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥' [काम० १.३.१७]

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका। यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति। कितवद्यूतकादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छ-कटिकादिवत् सङ्कीर्णप्रकरणमिति।

'रूप, शील और गुणों से युक्त वेश्या इन कलाओं से उन्नति को प्राप्त हो [सामान्य शब्द से कही जाने वाली वेश्या ही विशिष्ट होकर] गणिका शब्द से अभिहित होती है और नागरिक गोष्ठी में उसे स्थान मिल जाता है।'

परिष्कार—कामसूत्र की 'जयमङ्गला' टीका में यशोधर ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—'आभिरिति। कलाभिरभ्युच्छ्रिता जातोत्कर्षा। वेश्येति प्रायशोग्रहण-मस्या इति दर्शनार्थम्। शीलं सुस्वभावः। रूपं संस्थानं वर्णश्च। गुणा नायिकाया वैशिक वक्ष्यमाणाः। गणिकाशब्दमिति वेश्यासामान्यशब्दवाच्यापि विशिष्टं गणिकाभिधानं लभते इत्यर्थः; एवं लक्षणत्वाद् गणिकायाः। स्थानं च जनसंसदीति—जनसभायामासनभूमिं लभते। न वेश्येत्यवगण्यते।' वेश्या ही पांचालिकी बाला एवं कामसूत्र के चौदहवें सूत्र में कही गई कलाओं से उन्नति को प्राप्त हो जाती है। इस श्लोक में ग्रन्थकार के द्वारा 'वेश्या' शब्द का ग्रहण इसलिए नहीं किया गया है कि वे ही अधिकारिणी हैं, किन्तु इन कलाओं का अभ्यास वे ज्यादा करती हैं—इस बात को दिखाने के लिए 'वेश्या' शब्द का ग्रहण है। सुन्दर स्वभाव को शील कहते हैं। शरीर की सुगढ़ बनावट एवं वर्ण [सौन्दर्य] को रूप कहते हैं। नायिका के गुणों का वर्णन कामसूत्र के वैशिक-अधिकरण में किया जायगा। यद्यपि 'वेश्या' शब्द सामान्यवाची है किन्तु वेश्या के ही आचरण गणिकाओं के जैसे हो जाने के कारण उसे सब लोग 'गणिका' ही कहते हैं। इस प्रकार जन-सभा में उसे अत्यन्त आदर से आसन प्राप्त होता है। अतः उसे लोग वेश्या नहीं गिनते हैं। और वह—

पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता ।
प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते ॥ [कामसूत्र १.३.१८]

राजा से सदा सम्मानित एवं गुणियों से प्रशंसित, प्रार्थनीय, अभिगम्य एवं लक्षभूत हो जाती है ॥

इस प्रकार १. कुलवती स्त्री, या २. वेश्या, अथवा ३. ये दोनों ही जिसमें हों—ये तीन प्रकार की नायिका प्रकरण में होती हैं। जैसे 'तरङ्गदत्त' [नामक प्रकरण] की नायिका वेश्या ही है; पुष्पदूषितक [नामक प्रकरण] में कुलीन नारी ही है एवं मृच्छ-कटिक में वे दोनों ही [कुलजा एवं वेश्या] नायिका हैं। बदमाश, जुआड़ी इत्यादि धूर्तों से युक्त होने वाले संकीर्ण-प्रकरण को मृच्छकटिक आदि के समान जानना चाहिए।

---

१. 'आभिरभ्यर्थिता' इति वा पाठः ।

अथ नाटिका—

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।

अत्र केचित्—

'अनयोश्च बन्धयोगादेको[1] भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः[2]।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये[3] ॥' [ना० शा० १८.५७]

इत्यमुं भारतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते । तदसत् । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात्, समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात् । वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः ।

इसके बाद नाटिका [का निरूपण करते हैं]—

[नाटक तथा प्रकरण दोनों के लक्षण का निरूपण करने के बाद इनके] मिश्रित [= संकीर्ण] भेद नाटिका का भी लक्षण यहीं पर अन्य उपरूपकों की निवृत्ति के लिए करते हैं ॥

परिष्कार—उपरूपकों के १८ भेदों में नाटिका प्रथम है । यह नाटक और प्रकरण के योग से समुद्भूत है । किन्तु कुछ लोग इन दोनों के योग से समुद्भूत 'प्रकरणिका' को भी मानते हैं । ग्रन्थकार इसी अन्य रूपक के भेद के निराकरण के लिए 'लक्ष्यते····' यह कारिका करते हैं । वृत्तिकार धनिक इस कारिका के पूर्वपक्ष के रूप में आचार्य भरत का निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं । नाटक और प्रकरण से समुद्भूत प्रकरणिका होती है—इसी संदर्भ में कुछ विद्वान् इस श्लोक को पढ़ते है ।

इस [प्रकरणिका के सन्दर्भ] में कुछ लोग [नाट्यशास्त्र का यह श्लोक कहते हैं]—

इन दोनों नाटक और प्रकरण के संयुक्त बन्धन से प्रयोक्ताओं को नाटी संज्ञाश्रित काव्य में एक ही भेद समझना चाहिए चाहे वह प्रख्यात हो अथवा अप्रख्यात ।

आचार्य भरत के इस श्लोक की—[नाटक और प्रकरण के योग से काव्य का] एक नाटिका नामक प्रख्यात भेद है और दूसरा प्रकरणिका संज्ञक अप्रख्यात [= अप्रसिद्ध] भेद है । इस तरह नाटी संज्ञा से अभिहित होने वाले दो प्रकार के भेद होते हैं—इस प्रकार की व्याख्या करते हुए कुछ लोग प्रकरणिका नामक भेद भी मानते हैं । किन्तु उनकी इस प्रकार की व्याख्या ठीक नहीं है । क्योंकि भरत के इस श्लोक में न तो प्रकरणिका को नाम से ही निर्दिष्ट [=उद्देश] किया गया है और न तो उसका लक्षण ही कहा गया है । अथवा दोनों का लक्षण समान ही है—यदि यह कहा जाय तो फिर दोनों में कोई भेद न होने से [प्रकरणिका को अलग कैसे माना जा सकता है ?] यदि यह कहा जाय कि प्रकरणिका और प्रकरण में वस्तु, रस और नायक एक ही जैसे होते हैं तो फिर प्रकरण के अतिरिक्त प्रकरणिका को अलग मानना व्यर्थ है ।

---

१. 'दन्यो' इति वा पाठः । २. 'कार्यः' इति वा पाठः । ३. 'नाटकयोगे प्रकरणे वा' इति वा पाठः (ना० शा० १८.५७) ।

अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः । शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

तमेव सङ्करं दर्शयति—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥ ४३ ॥
प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति ।

एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्रभेदात् यदि भेदः, तत्र (तदा)—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥ ४४ ॥

अतएव [दशरूपकों की श्रेणी में] नाटिका का नाम न गिनाकर भी भरतमुनि ने जो [नाटिका का] लक्षण किया है उसका अभिप्राय यह है—[नाटक और प्रकरण के] शुद्ध लक्षण के मिश्रण से ही उस [नाटिका] के लक्षण के स्वतः सिद्ध हो जाने पर भी जो लक्षण किया गया है वह—'संकीर्ण [मिश्रित] रूपकों में विशेषतः कवि को नाटिका की ही रचना करनी चाहिए'—इस नियम के विशेष रूप से ज्ञापन के लिए ही किया गया है ।

परिष्कार—प्रकरण का लक्षण करने के बाद भाण आदि का लक्षण न करके नाटिका का जो लक्षण किया जा रहा है 'लक्ष्यते·····' आदि कारिका से उसी का कारण बतलाते हैं ।

[नाटक तथा प्रकरण के] उसी सम्मिश्रण को कारिका में दिखलाया जा रहा है—

उस [नाटिका] में प्रकरण से तो कथावस्तु लेनी चाहिए; और नाटक से उस नायक का चयन करना चाहिए जो राजा, प्रख्यात तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त एवं धीरललित हो । नाटिका में प्रधान-रस [अपने लक्षणों से परिपूर्ण] शृङ्गार ही होना चाहिए ॥ ४३-४४ ॥

नाटिका में कल्पित कथावस्तु का होना प्रकरण की विशेषता [=धर्म] है और प्रख्यात नृप का नायक आदि होना तो नाटक की विशेषता है ।

इस प्रकार नाटक, प्रकरण और नाटिका इन तीनों से वस्तु आदि के द्वारा प्रकरणिका में कोई भेद नहीं दिखलाई पड़ता और यदि अंकों एवं पात्रों की संख्या के आधार पर नाटक एवं प्रकरणिका में भेद माना जाय तब तो [रूपकों एवं उपरूपकों के अनेक भेद हो जायँगे]—

स्त्री पात्रों की प्रधानता तथा चार अंकों का होना आदि यदि [नाटिका एवं प्रकरणिका का] भेदक माना जाय तब तो एक, दो या तीन अंको अथवा पात्रों आदि के

एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम् । कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

विशेषस्तु—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४५ ॥
गम्भीरा मानिनी, कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसंगमः[1] ।

प्राप्या तु—

[2]नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥ ४६ ॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥ ४७ ॥
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शंकितः ।

[न्यूनाधिकात्मक] भेद से रूपकों के भेद की कोई सीमा ही नहीं रह जाएगी ॥ ४४-४५ ॥

उस [नाटिका] में 'नाटिका'—इस स्त्रीलिङ्ग वाची संज्ञा के कारण स्त्री पात्रों की प्रधानता औचित्य प्राप्त है; और कैशिकीवृत्ति का नाटिका में आश्रयण होने के कारण तथा उस कैशिकीवृत्ति के नर्म आदि चार अङ्गों की संख्या के अनुसार तथा अवमर्शसन्धि के अत्यल्प होने के कारण भी नाटिका में चार अङ्कों का होना औचित्य-प्राप्त ही है ।

[उस नाटिका की] विशेषता तो इस प्रकार है—

नाटिका में देवी [महारानी] ज्येष्ठा नायिका होती है; जो स्वभाव से प्रगल्भ, गम्भीर एवं मानिनी तथा राजकुल में उत्पन्न होती है । [नायक के] उसके अधीन होने के कारण [प्राप्या-नायिका के साथ] नायक का समागम बड़ी ही कठिनता से हो पाता है ॥४५-४६॥

द्वितीय प्रेमिका [=प्राप्या] नायिका तो—

यह प्रेमिका नायिका भी उस ज्येष्ठा के ही समान राजकुल में उत्पन्न, अवस्था की दृष्टि से मुग्धा, दिव्य गुणों से विभूषित होती है । इसका रूप अत्यन्त सुन्दर और मन को मोह लेने वाला होता है ॥ ४६ ॥

[कारिका में] 'तादृशी'—इस पद के द्वारा राजकुल में उत्पन्न होना आदि [पहले ४५ वीं एवं ४६ वीं कारिका में कहे गए] धर्मों का अतिदेश कर लेना चाहिए ।

इस प्राप्या नायिका के अन्तःपुर आदि से सम्बन्धित होने के कारण [अन्तःपुर में उसके गाने आदि के] देखने सुनने से आकृष्ट हुआ नायक पहली नायिका महारानी के भय से छिपकर डरते-डरते उससे प्रेम में प्रवर्तित होता है । इस प्रकार नायक का उसके प्रति उत्तरोत्तर नवीन अनुराग होता रहता है ॥ ४७-४८ ॥

१. 'संगमे' इति वा पाठः ।

२. 'प्राप्यान्या' इति वा पाठः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः ।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥ ४८ ॥

प्रत्यङ्गोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ **भाणः**—

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्ण्यतेऽेको निपुणः पण्डितो विटः ॥ ४९ ॥
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृंगारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥ ५० ॥
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्के वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१ ॥

धूर्तश्चौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स

अन्तःपुर के सम्बन्ध से अथवा सङ्गीत आदि के सम्बन्ध से निकटस्थ हुई उस मुग्धा [प्रेमिका] नायिका के प्रति नायक के नित्य नवीन और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए तथा देवी रूप बाधा से बाधित हुए अनुराग का निबन्धन [कवि को] करना चाहिए ।

जिस प्रकार नाटिका चार अङ्कों से युक्त होती है उसी प्रकार इसे कैशिकीवृत्ति के चार अंगों से भी युक्त कहा गया है ॥ ४८ ॥

कहे गए लक्षण के अनुसार कैशिकीवृत्ति के चारों अङ्गों [नर्म, नर्म-स्फिञ्ज, नर्म-स्फोट एवं नर्म-गर्भ] में से एक-एक का नाटिका के प्रत्येक अङ्क में उपनिबन्धन होना चाहिए ।

३. भाण—

इसके बाद भाण [नामक रूपक के तीसरे भेद का निरूपण करते हैं]—

भाण रूपक का वह भेद है जिसमें कोई चतुर तथा बुद्धिमान विट अपने द्वारा अनुभूत या औरों के द्वारा अनुभूत धूर्तचरित्र का वर्णन करता है । वह [विट] आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति करता है । [यह] शौर्य और सौभाग्य [=विलास] के वर्णन के द्वारा वीर तथा शृङ्गार रस की सूचना देता है । भाण में प्रायः भारती [=कहीं-कहीं कैशिकी] वृत्ति का प्रयोग होता है । यह एक अङ्क का होता है और इसकी कथावस्तु कवि-कल्पित होती है । [इसमें पाँच सन्धि न होकर] अपने अंगों के सहित मुख तथा निर्वहण सन्धि ही होती हैं । इसके अलावा इसमें दस लास्याङ्गों का भी सन्निवेश होता है ॥४९-५१॥

कारिकागत 'धूर्त' शब्द का आशय चोर और जुआड़ी आदि से है; जहाँ अपने द्वारा किए गए अथवा दूसरे किसी के द्वारा किए गए उन धूर्तों के चरित का अकेले विट ही वर्णन करे वह भारतीवृत्ति के प्राधान्य के कारण 'भाण' कहा जाता है । एक ही विट

भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद् भाणः। एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितेनाशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति। अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ।

लास्याङ्गानि—

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥ ५२ ॥
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम्[1] ॥ ५३ ॥

शेषं स्पष्टमिति।

आकाशभाषित के द्वारा किसी कल्पित व्यक्ति की आशङ्का करके तथा उसका उत्तर देकर उसी की उक्ति-प्रत्युक्ति में सम्पन्न हो जाता है। इसमें रस की स्पष्टता न होने से सौभाग्य एवं शौर्य के वर्णन के द्वारा क्रमशः शृङ्गार तथा वीर-रस की सूचना दी जाती है।

[भाण के सम्बन्ध में कहे गए] लास्य के अङ्ग इस प्रकार हैं—

१. गेयपद, २. स्थितपाठ्य, ३. आसीन, ४. पुष्पगण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. त्रिगूढ, ७. सैन्धव, ८. द्विगूढक, ९. उत्तमोत्तमक, तथा १०. उक्त-प्रत्युक्त—इन दस प्रकार के अंगों का [भरत के द्वारा लक्षण] निर्देश किया गया है ॥५२-५३॥

कारिका का शेष भाग स्पष्ट है।

परिष्कार—इन लास्याङ्गों का निरूपण साहित्य दर्पण [६.२१२-२२३] में इस प्रकार किया गया है—

१. गेयपद—वीणा, तानपूरा आदि को आगे रखकर आसन पर बैठे हुए पुरुष या स्त्री के शुष्क गान को 'गेयपद' कहते हैं। **२. स्थितपाठ्य**—मदन से सन्तप्त नायिका बैठकर जो प्राकृत पाठ करती है उसे 'स्थितपाठ्य' कहते हैं। **३. आसीन**—शोक और चिन्ता से युक्त अभूषिताङ्गी कामिनी, किसी बाजे के बिना, बैठकर जो गाती है उसे 'आसीन' कहते हैं। **४. पुष्पगण्डिका**—बाजे के साथ जहाँ गाना हो, छन्द अनेक प्रकार के हों, स्त्री पुरुषों की चेष्टाएँ विपर्यस्त हों अर्थात् स्त्रियाँ पुरुषों का और पुरुष स्त्रियों का अभिनय करते हों उसे 'पुष्पगण्डिका' कहते हैं। **५. प्रच्छेदक**—पति को अन्य नायिका में आसक्त जानकर प्रेमविच्छेद के अनुताप से वीणा के साथ जो स्त्री का गाना है उसे 'प्रच्छेदक' कहते हैं। **६. त्रिगूढक**—स्त्री के वेश को धारण किए हुए पुरुषों का श्लक्ष्ण-नाट्य 'त्रिगूढक' कहलाता है जैसे मालतीमाधव में मकरन्द मालती बना था। **७. सैन्धव**—जहाँ कोई भ्रष्ट संकेत होकर सुस्पष्ट वीणा आदि करण [साधन] के साथ प्राकृत गीति

१. 'लक्षणम्' इति वा पाठः।

अथ **प्रहसनम्**—

तद्वत् प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः।

तत्र **शुद्धं** तावत्—

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥ ५४ ॥
चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम्।

पाखण्डिनः=शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः। विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा।

का गान करे वह 'सैन्धव' कहलाता है। **८. द्विगूढक**—जिसमें सब पद सुन्दर हों, मुख प्रतिमुख [सन्धियाँ] विद्यमान हों, रस और भाव सुसम्पन्न हों उस गीत को 'द्विगूढक' कहते हैं। **९. उत्तमोत्तमक**—कोप और प्रसन्नता से उत्पन्न, आक्षेप से युक्त, रसपूर्ण, हाव और हेला से संयुक्त, विचित्र पद रचना से मनोहर गान को 'उत्तमोत्तमक' कहते हैं। **१०. उक्त-प्रत्युक्त**—उक्ति और प्रत्युक्ति से युक्त, उपालम्भ के सहित अलीक [अप्रिय या मिथ्या] के समान प्रतीत होने वाला विलासपूर्ण अर्थ-सम्पन्न गान 'उक्त-प्रत्युक्त' कहलाता है।

इस प्रकार १. भाण में केवल एक **अङ्क** ही होता है। २. इसकी कथावस्तु काल्पनिक होती है; जिसमें धूर्त चरित्र पाया जाता है। मात्र दो सन्धियाँ मुख तथा निर्वहण होती हैं। ३. इसका नायक निपुण तथा बुद्धिमान विट होता है। वही एक पात्र पूरे रूपक में होता है। आकाशभाषित के माध्यम से किसी कल्पित व्यक्ति से यह बातचीत करता है। ४. प्रायः इसमें भारतीवृत्ति का प्रयोग होता है। इसमें वीर तथा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है; और ६. दस लास्याङ्गों का भी सन्निवेश होता है।

४. प्रहसन—

इसके बाद प्रहसन [नामक रूपक के चौथे भेद का निरूपण करते हैं]—

उस भाण के ही समान प्रहसन होता है। वह शुद्ध वैकृत और सङ्कर के भेद से तीन प्रकार का होता है ॥

कारिकागत 'तद्वत्' इस पद से वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग तथा लास्य आदि का अतिदेश करना चाहिए।

(i) [प्रहसन के] उन [भेदों] में से **शुद्ध प्रहसन** [का लक्षण इस प्रकार है]—

शुद्ध प्रहसन वह है जो पाखण्डी विप्र प्रभृति एवं चेट, चेटी [=नौकर, नौकरानियाँ] तथा विट से परिपूर्ण होता है; जो उनके चरित, वेश तथा भाषा से समन्वित होता है; तथा जो हास्यपूर्ण वचनों से युक्त होता है ॥ ५४-५५ ॥

बौद्ध तथा जैन सन्यासी आदि पाखण्डी हैं। 'विप्र' का तात्पर्य अत्यन्त सरल प्रकृति के ब्राह्मणों से है; अथवा एकमात्र जाति के नाम पर जीविका चलाने वालों से है। ये

१. 'वेषभाषादि' 'देशभाषादि' इति वा पाठः।

प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः, तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

विकृतं तु—

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ॥ ५५ ॥
विकृतं,

कामुकादयः—भुजङ्गचारभटाद्याः । तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम् । स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् ।

सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसंकुलम् ।

वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ।

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥ ५६ ॥

इति स्पष्टम् ।

अथ **डिमः**—

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद् वृत्तयः कैशिकीं विना ।

प्रहसन के अङ्गी रस हास्य के विभाव होते हैं । जिसमें पाखण्डी और विप्र आदि का यथोचित व्यवहार उपनिबद्ध किया जाता है; और जो चेट एवं चेटी के व्यवहारों से युक्त होता है—वह शुद्ध प्रहसन कहलाता है ।

(ii) **विकृत-प्रहसन** का लक्षण इस प्रकार है—

जो कामुक इत्यादि के वचन एवं वेश को धारण करने वाले नपुंसकों, कंचुकियों एवं तपस्वियों से युक्त होता है वह विकृत प्रहसन है ॥ ५५-५६ ॥

कामी, लम्पट, दूत तथा योद्धा आदि कामुकादि हैं । उनके वेष एवं भाषा आदि को धारण करने वाले नपुंसक, कञ्चुकी, तपस्वी तथा वृद्ध जिसमें होते हैं—कामुकादि विभावों के अपने स्वरूप से च्युत हो जाने से वह विकृत-प्रहसन होता है ।

परिष्कार—'विकृत' इस नाम का कारण यह है कि इसमें विभाव अपने असली स्वरूप को छोड़कर विकृत [=नकली] रूप को धारण कर लेता है; अर्थात् नट, नपुंसक आदि का तो रूप बनाकर आते हैं और चेष्टाएँ कामुक योद्धा इत्यादि की भाँति करते हैं ।

(iii) [**संकीर्ण प्रहसन** का लक्षण इस प्रकार है—]

जो वीथी [के अङ्गों] से मिश्रित तथा धूर्तों से व्याप्त रहता है वह संकीर्ण प्रहसन है ॥

वीथी के अङ्गों से मिश्रित होने के कारण इसे संकीर्ण कहते हैं ।

[तीनों प्रहसनों में] छहों प्रकार के हास्य रस का प्रचुरता के साथ उपनिबन्धन करना चाहिए ॥ ५६ ॥

कारिका का अर्थ स्पष्ट है ।

परिष्कार—हास्य के छः प्रकार दशरूपक [४.७६-७७] में इस प्रकार हैं—

१. स्मित, २. हसित, ३. विहसित, ४. उपहसित, ५. अपहसित, ६. अतिहसित ।

५. डिम—

इसके बाद डिम [नामक रूपक के पाँचवें भेद का निरूपण करते हैं]—

डिम की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है । इसमें कैशिकीवृत्ति के अलावा शेष

नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥ ५७ ॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८ ॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९ ॥
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाद्डिमः । तत्रेतिहासप्रसिद्धमितिवृत्तम् । वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः । रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षट् । स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानः । विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः साङ्गाः । मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (यः) । शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत् । एतच्च—

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिममंज्ञः प्रयोजितः ॥' [ना० शा० ४.१०]

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम् ।

सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है । देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग [=वासुकि आदि महासर्प], भूत, प्रेत, पिशाच आदिक अत्यन्त उद्धत सोलह नायक इसमें होते हैं । हास्य और शृङ्गार को छोड़कर शेष छः दीप्त रसों से यह समन्वित होता है । न्यायतः इसमें रौद्ररस अङ्गी होता है [और शेष रस अङ्ग होते हैं] । यह माया, इन्द्रजाल, संग्राम क्रोध, उन्मत्त आदि की चेष्टाओं तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि के दृश्यों से व्याप्त होता है । [इस प्रकार] डिम चार अंक तथा विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियों वाला कहा गया है ॥ ५७-६० ॥

'डिम' का अर्थ है समूह । नायकों के सङ्घात के व्यापार से व्याप्त होने के कारण इसे 'डिम' कहा जाता है । उसमें इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है । कैशिकी वृत्ति के अलावा तीन वृत्तियाँ इसमें पाई जाती हैं; और यह छः रस—वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक से युक्त होता है । न्यायतः यह रौद्र-रस प्रधान होता है । विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष मुख, प्रतिमुख, गर्भ और निर्वहण नामक चार सन्धियाँ अपने अङ्गों के सहित इसमें पाई जाती है । इसमें माया तथा इन्द्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है । शेष प्रस्तावना आदि नाटक के समान ही होती हैं । और इसी का प्रतिपादन—

"ब्रह्मा ने 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक में डिम का यह लक्षण बतलाया था । उसी लक्षण के अनुसार त्रिपुरदाह नामक डिम का अभिनय [हिमालय पर्वत पर] किया था ।"

इस प्रकार भरतमुनि के द्वारा [ना. शा. ४.१० में] स्वयं ही त्रिपुरदाह के इतिवृत्त की समानता दिखलाई गई है ।

अथ **व्यायोगः**—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥ ६० ॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥ ६१ ॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन् बहवः पुरुषा इति व्यायोगः । तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृङ्गार-रहिताः । वृत्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते । अस्त्रीनिमित्तश्चात्रसंग्रामः । यथा परशुरामेण पितृवधकोपात् सहस्रार्जुनवधः कृतः । शेषं स्पष्टम् ।

परिष्कार—कारिका के 'न्याय्ये' [=न्यायानुसार] पद का अर्थ इस प्रकार है—

वस्तुतः डिम में रौद्र-रस न्याय प्राप्त प्रधान-रस होना चाहिए, अर्थात् रावण के समान परदारा में श्रद्धा न होकर न्यायप्राप्त रौद्र-रस का प्रतिपादन करना चाहिए ।

६. व्यायोग—

इसके बाद 'व्यायोग' [नामक रूपक के छठवें भेद का निरूपण करते हैं]—

व्यायोग वह है जिसमें इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है; और जिसमें इतिहास-प्रसिद्ध एवं धीरोद्धत नायक का आश्रय लिया जाता है । यह गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित होता है । डिम के ही समान इसमें भी छः प्रदीप्त [स्वयं प्रकट होने वाले] रस होते हैं । इसमें स्त्री के लिए युद्ध नहीं होता है; जैसे जामदग्न्य-जय [नामक व्यायोग में पितृवध से कुपित होकर परशुराम द्वारा युद्ध किया गया है] । यह एक अङ्क का होता है जिसमें एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है । इस प्रकार व्यायोग में पात्रों का भी बाहुल्य होता है ॥ ६०-६२ ॥

क्योंकि इसमें बहुत से पुरुष व्यायुक्त अर्थात् लगे रहते हैं अतः इसे व्यायोग कहते हैं । डिम के ही समान इसमें भी हास्य और शृंगार को छोड़कर छः रस होते हैं । [व्यायोग की वृत्ति का कारिका में] उल्लेख न होने पर भी रसों के वृत्त्यात्मक होने के कारण डिम के रस के समान ही कैशिकी वृत्ति को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ इसमें होती हैं—यह बात भी 'डिमवद्रसाः' इस पद से प्राप्त हो जाती है । इसमें जिस युद्ध का वर्णन होता है उसका निमित्त स्त्री नहीं होती—जैसे पिता के वध से कुपित होकर परशुराम के द्वारा सहस्रार्जुन का वध कर दिया गया था । कारिका का शेष अंश स्पष्ट है ।

परिष्कार—(क) प्रश्न है कि रस वृत्यात्मक कैसे हैं ? वस्तुतः भारती आदि वृत्तियाँ शब्द तथा अर्थ की वृत्ति हैं; और धनञ्जय के अनुसार रसानुभूति वाक्यार्थ के रूप में होने के कारण रस वृत्यात्मक हैं । रस और वृत्तियाँ एक-दूसरे पर आश्रित होकर रहती हैं । (ख) क्योंकि कैशिकी वृत्ति शृङ्गार में ही होती हैं और व्यायोग में हास्य और शृङ्गार नहीं होता । अतः कैशिकी वृत्ति भी इसमें नहीं होती है ।

अथ **समवकारः**—

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत् ॥ ६२ ॥
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥ ६३ ॥
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक् पृथक् ।
बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥ ६४ ॥
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनाडिकः[1] ॥ ६५ ॥
चतुर्द्विनाडिकावन्त्यौ[2] नाडिका घटिकाद्वयम् ।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥ ६६ ॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः ।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात् प्रहसने यथा ।

---

७. समवकार—

इसके बाद समवकार [नामक रूपक के सातवें भेद का निरूपण करते हैं]—

नाटक आदि के ही समान समवकार में भी आमुख को नियोजित करना चाहिए । इसमें देवताओं और असुरों से सम्बद्ध [इतिहास-पुराण] प्रसिद्ध कथावस्तु होती है । इसमें विमर्श को छोड़कर शेष [चार] सन्धियाँ होती हैं । वृत्तियाँ सभी होती हैं । किन्तु कैशिकीवृत्ति की न्यूनता होती है । धीरोदात्त प्रकृति के देव और दानव आदिबारह प्रसिद्ध नायक होते हैं, और उन [बारह नायकों] की फलप्राप्ति भी पृथक् पृथक् होती है । ये सभी नायक वीररस से परिपूर्ण होते हैं; जैसे [हम] समुद्र-मन्थन में [देखते हैं] । इसमें तीन अंक होते हैं । तीन बार कपट का चित्रण होता है । [धर्म, अर्थ व काम रूप] तीन शृंगार होते हैं, और तीन बार पात्रों में विद्रव [=भगदड़] होता है । इसमें प्रथम अंक में [मुख और प्रतिमुख] दो सन्धियाँ होती हैं, जिसकी कथा बारह नाडिका [२४ घड़ी] की होती है । इसका दूसरा और तीसरा अंक क्रमशः चार [८ घड़ी] और दो [४ घड़ी] नाडिका का होता है । एक नाडिका दो घड़ी की होती है । वस्तु, स्वभाव और शत्रुओं से विहित तीन प्रकार के कपटों की योजना की जाती है । इसमें नगरावरोध, युद्ध, वायु तथा अग्नि आदि के द्वारा विहित तीन विद्रव [=भगदड़] का निबन्धन होना चाहिए । इसी प्रकार धर्म, अर्थ और काम से युक्त तीन प्रकार का शृंगार भी इसमें होता है । बिन्दु [नामक अर्थप्रकृति] और प्रवेशक [नामक अर्थोपक्षेपक] नहीं होता । प्रहसन की ही तरह इसमें यथायोग्य वीथी के अंगों का भी संयोजन करना चाहिए । ॥ ६२-६८ ॥

---

१. नालिकः इति वा पाठः ।

२. 'नालिका इति वा पाठः ।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्त-रूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः। देवासुरादयो द्वादश नायकाः। तेषां च फलानि पृथक् पृथग् भवन्ति। यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः, वीरश्चाङ्गी, अङ्गभूताः सर्वे रसाः, त्रयोऽङ्काः, तेषां प्रथमो द्वादशनाडिकानिर्वृत्तेतिवृत्तप्रमाणः। यथासंख्यं चतुर्द्विनाडिकावन्त्यौ। नाडिका च=घटिकाद्वयम्। प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटाः। तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्यः। धर्मार्थिकामशृङ्गारा-मेकैकः शृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः। वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि। विन्दु-प्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

अथ **वीथी**—

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥ ६८ ॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।

सम्यक् रूपेण जिसमें काव्य के प्रयोजन बिखेर दिए जाते हैं वह 'समवकार' है। 'नाटक आदि के समान आमुख रहना चाहिए'—कारिकागत इस कथन से सभी रूपकों में आमुख का रहना निरूपित होता है। इसमें विमर्श को छोड़कर अन्य चार सन्धियाँ होती हैं। देव तथा असुर आदि बारह नायक होते हैं; और उन [बारह नायकों] के फल भी पृथक्-पृथक् ही होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन में विष्णु आदि को लक्ष्मी आदि [रत्नों] का [अलग-अलग] लाभ होता है। यह वीर-रस प्रधान होता है। और शेष सभी रस उसके अंगभूत होकर रहते हैं। तीन अंक होते हैं। उसमें प्रथम अंक का इति-वृत्त १२ नाड़ी तक समाप्त हो जाने वाला होता है, और द्वितीय एवं तृतीय अंक का इतिवृत्त क्रमशः चार और दो नाड़ी में समाप्त हो जाने वाला होता है। दो घड़ी की एक नाड़ी होती है। प्रत्येक अङ्क में क्रमशः कपट-त्रय [स्वाभाविक, दैविक और कृत्रिम अर्थात् शत्रुकृत-कष्ट] तथा नगरोपरोध, युद्ध, वायु और अग्नि आदि उपद्रवों [=विद्रव] में से कोई एक का निबन्धन करना चाहिए। धर्मशृंगार [धर्मपत्नी के साथ की गई शृङ्गार चेष्टा], अर्थशृङ्गार [लोभवशात् की गई शृङ्गार चेष्टा] और काम शृङ्गार [परकीया नायिका के साथ की गई शृङ्गार चेष्टा] में से एक-एक शृङ्गार का प्रत्येक अङ्क में विधान होना चाहिए; और वीथी के अङ्गों का संयोजन यथायोग्य करना चाहिए। नाटक में यद्यपि बिन्दू और प्रवेशक का होना कहा गया है, फिर भी उनकी योजना इसमें नहीं करनी चाहिए। यही समवकार है।

८. **वीथी**—

इसके बाद 'वीथी' [नामक रूपक के आठवें भेद का निरूपण करते हैं]—

वीथी का निबन्धन तो कैशिकीवृत्ति में हुआ करता है और सन्ध्यङ्ग एवं अङ्क भाण के समान होते हैं [अर्थात् मुख और निर्वहण सन्धि होती है और एक ही अङ्क होता है]। किन्तु भाण से भेद इतना ही है कि इसका प्रधान [=सूच्य] रस शृङ्गार होता है किन्तु कवि को चाहिए कि अन्य रसों का भी स्पर्श करे। यह उद्घात्यक आदि

युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ॥ ६९ ॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथीवद्वीथी मार्गः। अङ्गादीनामुपपत्तिः भाणवत् कार्या। विशेषस्तु रसः शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद् भूयसा सूच्यः। रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि। कैशिकी वृत्तिरिह रसौचित्यादेवेति। शेषं स्पष्टम् ॥

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ ७० ॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।
भाणवत् सन्धिवृत्त्यङ्कैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ॥ ७१ ॥
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम्। शेषं प्रतीतमिति ॥

पहले कहे हुए प्रस्तावना के अङ्गों से युक्त होती है। इस प्रकार एक या दो पात्रों से योजित वीथी का विधान करना चाहिए ॥ ६८-७० ॥

वीथी अर्थात् गली या रास्ता के समान होने के कारण इसे वीथी [=मार्ग] कहते हैं वीथी में अङ्गों की योजना भाण के समान करनी चाहिए। [किन्तु भाण से इसका यही] भेद है कि इसमें शृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक न होने से यह अधिकतर सूच्य होती है। फिर भी, अन्य रसों का भी कुछ-कुछ स्पर्श करना चाहिए। शृङ्गार रस के औचित्य के कारण ही इसमें कैशिकी वृत्ति का विधान किया जाता है। कारिका का शेष भाग स्पष्ट है।

९. **अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्क**—

इसके बाद अङ्क [या उत्सृष्टिकाङ्क नामक रूपक के नौवें भेद का निरूपण करते हैं]—

उत्सृष्टिकाङ्क [नामक रूपक के भेद] में कवि को चाहिए कि वह इतिहास-प्रसिद्ध इतिवृत्त को ही अपनी बुद्धि से [इधर उधर करके] विस्तृत कर ले। इसमें प्रधान रस करुण होता है और साधारण पुरुष ही नायक होते हैं। यह भाण के ही समान [मुख एवं निर्वहण] सन्धि, [भारती] वृत्ति और एक अङ्क से युक्त होता है। [करुण रस प्रधान होने से] यह स्त्री के विलाप से युक्त होता है। इस प्रकार इसके पात्रों में वाग्युद्ध का तथा जय व पराजय का भी विधान करना चाहिए ॥ ७०-७२ ॥

कारिका में अङ्क को उत्सृष्टिकाङ्क कहने का तात्पर्य यह है कि नाटकान्तर्गत अङ्क से इसका भेद प्रदर्शित हो जाय। कारिका का शेष अंश स्पष्ट है।

अथहामृगः—

मिश्रमिहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ।।७२।।
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ।।७३।।
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किंचित्प्रदर्शयेत् ।।७४।।
संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ।।७५।।

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः। ख्याताख्यातं वस्तु। अन्त्य = प्रतिनायको विपर्यासाद् विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः। स्पष्टमन्यत् ।

---

१०. ईहामृग—

इसके बाद 'ईहामृग' [नामक रूपक के दसवें भेद का निरूपण करते हैं]—

ईहामृग [नामक रूपक के भेद] में इतिवृत्त मिश्रित [अर्थात् कुछ इतिहास-प्रसिद्ध और कुछ कवि कल्पित] होता है। यह चार अङ्कों तथा तीन सन्धियों [मुख, प्रतिमुख और निर्वहण] से युक्त होता है। नियम के न होने के कारण [ईहामृग में] नायक और प्रतिनायक देवता हों, या मानव हों अथवा दोनों ही के होने में कोई रोक नहीं है [अर्थात् यदि नायक देव हो तो मानव भी प्रतिनायक हो सकता है और यदि प्रतिनायक देव हो तो नायक के रूप में मानव का भी चित्रण किया जा सकता है]। इसके नायक तथा प्रतिनायक इतिहास-प्रसिद्ध और धीरोद्धत होते हैं। इनमें अन्तिम [अर्थात् प्रतिनायक] बुद्धि-विपर्यास [=मूढ़ता] के कारण अनुचित कर्मों में तत्पर रहता है। उस [प्रतिनायक के प्रेम] की अनिच्छुक किसी दिव्याङ्गना को अपहरण आदि [अर्थात् छल] के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा वाले प्रतिनायक के आश्रय से कवि को शृङ्गाराभास का भी कुछ कुछ प्रदर्शन करना चाहिए। [नायक प्रतिनायक दोनों के बीच] उत्तेजना की उत्कृष्ट स्थिति को ले आकर किसी न किसी बहाने से युद्ध को निवारित कर देना चाहिए और प्रकरणतः यदि इसमें महापुरुष का वध प्राप्त भी हो तो भी कदापि उसे प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।।७२-७५।।

क्योंकि इसमें नायक मृग की भाँति अलभ्य नायिका की ईहा अर्थात् कामना करता है अतः इसे 'ईहा-मृग' कहते हैं। इसकी कथावस्तु कुछ इतिहास-प्रसिद्ध होती है और कुछ कवि-कल्पित। कारिकागत 'अन्त्यः' पद का तात्पर्य प्रतिनायक से है। उसकी भ्रमात्मक व उल्टी बुद्धि के कारण अनुचित-कर्मों के रूप में उसका विधान करना चाहिए। कारिका का शेष भाग स्पष्ट है।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ।। ७६ ।।

।। इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ।।

स्पष्टम् ।

।। इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रूपकलक्षणप्रकाशो नाम तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ।।

इस प्रकार दशरूपकों के लक्षणों के मार्ग का भलीभाँति चिन्तन करके, आद्योपान्त कथावस्तु को देखकर तथा कवियों के प्रबन्धों का परिशीलन करके कृत्रिमता-विहीन-अलंकारों से युक्त, स्फुट, अत्यन्त स्पष्ट व सरल छन्दों के द्वारा तथा उदार एवं मधुर वाक्यों आदि से प्रबन्ध की रचना करनी चाहिए ।। ७६ ।।

।। इस प्रकार धनञ्जयकृत दशरूपक के तृतीय प्रकाश की हिन्दी समाप्त हुई ।।

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ।

।। इस प्रकार विष्णु के पुत्र धनिक की कृति में दशरूपावलोक के 'रूपकलक्षण-प्रकाश' नामक तृतीय प्रकाश की सुधाकर मालवीय कृत 'विद्वद्विनोदिनी' नामक हिन्दी समाप्त हुई ।।

चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं[1] स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम्= निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः । तेन रसिकाः सामाजिकाः । काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवद् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत् ॥

राधिकावल्लभं नत्वा ब्रह्म लीलाकलेवरम् ।
करोमि दशरूपस्य व्याख्यानं पित्रनुग्रहात् ॥

'रस'

'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः' के अनुसार क्रम प्राप्त होने पर भी पहले [तृतीय प्रकाश में] रस के विवेचन का उल्लङ्घन करके नाटक में वस्तु, नेता और रस के उपयोग का प्रतिपादन किया गया । अब उस विवेचन के समाप्त होने पर लब्धवसरतया रस के भेदों का प्रतिपादन किया जा रहा है—

अब यहाँ रस के भेद का दिग्दर्शन कराते हैं—

विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन [=चर्वणा] के योग्य बनाया गया [अर्थात् परिपुष्टावस्था को प्राप्त रत्यादि स्थायी भाव ही 'रस' कहा गया है ॥ १ ॥

[इसी प्रकाश में] आगे वर्णन किए जाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्त्विक-भावों के द्वारा, काव्य में वर्णन अथवा अभिनय में प्रदर्शन देखकर काव्य पढ़ने वालों और अभिनय देखने वाले समाजिकों के हृदय में विस्फुरित होने वाला रति इत्यादि स्थायी भाव [जिनका वर्णन आगे किया जाएगा] जब स्वाद के योग्य हो जाते हैं तो उन्हें ही 'रस' की संज्ञा दी जाती है ।

क्योंकि परमानन्द की अनुभूति काव्य और नाटक पढ़ने, सुनने और देखने वाले सामाजिकों में हुआ करती है अतः सामाजिक ही 'रसिक' हैं । और, काव्य तो केवल उस प्रकार की अनन्दानुभूति के उद्‌बोधन का कारण होने से रसवत् [=रसयुक्त, सरस] कहलाता है । अर्थात् जैसे घृत की आयुवृद्धि में कारणता देख लोग 'आयुर्घृतम्' [=घी आयु ही है] इस प्रकार का प्रयोग करते हैं । [ठीक उसी प्रकार रस के भी विषय में

१. 'स्वादुत्वम्' इति वा पाठः ।

तत्र विभावः—

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
[1]आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥ २ ॥

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूप-काव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभावः । यदुक्तम्—'विभाव इति विज्ञानार्थः' [ना० शा० ७.३-४] इति' तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषूपपादयिष्यामः ।

'रसवान् काव्य है' इस प्रकार का व्यवहार होता है । वस्तुतः काव्य रसवान् नहीं होता, अपितु होते हैं सामाजिक] ।

परिष्कार—रस के प्रस्तुत लक्षण का उपजीव्य 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' अर्थात् 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है'—यह भरत का सूत्र है । मीमांसक भट्टलोल्लट के मतानुसार विभाव आदि रस के हेतु हैं तथा उनमें परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध है । कारिकागत 'आनीयमानः स्वाद्यत्वम्' पद से ऐसा प्रतीत होता है कि दशरूपककार भट्टलोल्लट के ही मतानुयायी हैं ।

उनमें **विभाव** के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

उन [रस के कारणभूत विभावादिकों] में विभाव वह है जो ज्ञायमान [=स्वयं जाना हुआ] होकर स्थायी भाव को परिपुष्ट करता है और वह आलम्बन एवं उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है ॥ २ ॥

'यह [दुष्यन्त आदि नायक] ऐसा है' किंवा 'यह [शकुन्तला आदि नायिका] ऐसी है'—इस प्रकार का जो नायक आदि अथवा अभीष्ट, देश-काल आदि का अतिशयोक्ति रूप में किया गया जो वर्णन उससे विशिष्ट रूप वाले हो जाने के कारण, **आलम्बन** के रूप में, किंवा **उद्दीपन** के रूप में जाने जाते हैं—वे **विभाव** हैं । जैसा कि [भरत द्वारा] कहा गया है—'विभाव का अर्थ है विज्ञान' और जिस रस के जो विभाव होते हैं उन विभावों का यथावसर रसों के विवेचन के प्रसङ्ग में प्रतिपादन किया जाएगा ।

परिष्कार—विभाव शब्द की निरुक्ति करते हुए भरत के द्वारा नाट्यशास्त्र में विभाव का अर्थ विज्ञान बताया गया है और विभाव, कारण, निमित्त, हेतु—ये पर्याय वाचक शब्द कहे गए हैं । यतः वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय के द्वारा जो विशिष्टतया जाने जाते हैं, वे विभाव हैं, अर्थात् क्योंकि वाचिकादि अभिनयों के आश्रय करने वाले बहुत से अर्थ इससे विभावित [=जाने जाते] होते हैं अतः इसकी 'विभाव' संज्ञा है ।

१. 'आलम्बनोद्दीपनाभ्यां कान्तोद्यानादिना द्विधा' इति वा पाठः ।

अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसंबन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥' इति [वाक्०३.७.५]

षट्सहस्रीकृताप्युक्तम्—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' [ना० शा० ७.६-७] इति॥

और, ये विभाव सीता-राम आदि नायक बाह्य सत्ता [=अर्थात् प्रत्यक्ष रूप में राम को देखने की अपेक्षा न रखने वाले ये विभाव आदि शब्द की उपाधि के सामर्थ्य से अपने-अपने रूप में प्रकट होते हैं, इस तरह साधारणी कृत [=सामान्य] रूप वाले होकर सहृदयों [=भावक] के द्वारा स्वयं अपने आप से ही सम्बन्धित समझे जाते हैं। इस प्रकार सहृदयों के चित्त में साक्षात् रूप से विस्फुरित होते हुए ये आलम्बन आदि भाव हो जाते हैं। अतः [श्रव्य-काव्य का नायक जो वस्तुतः आलम्बन विभाव है, दृश्य-काव्य के समान प्रत्यक्ष न होकर भी उन सीता-राम आदि] नायक का अभाव नहीं होता।

इसी बात को भर्तृहरि ने भी [वाक्यपदीय के साधन समुद्देश-प्रकरण में] कहा है—

'काव्यानुशीलन के समय शब्दों से उपस्थापित और ज्ञान में प्रतिभाषित कंसादिकों को सहृदय पुरुष, प्रत्यक्षवत्, वीरादि रसों का साधन समझने लगता है।'

षट्सहस्त्रीकार [भरत] ने भी ऐसा ही कहा है—'इन विभाव आदि से सामान्य गुणों के साथ योग अर्थात् सभी सहृदयों के हृदय के साथ संवाद होने पर रस निष्पन्न होते हैं।'

परिष्कार—(क) जिस विषय को आलम्बन बनाकर रस की निष्पत्ति होती है उसे 'आलम्बन विभाव' कहते हैं; और जिस विषय से रति का उद्दीपन होता है उसे 'उद्दीपन विभाव' कहते हैं। (ख) 'अतिशयोक्ति' पद का तात्पर्य काव्य की लोकोत्तर वर्णन शैली से है अलंकार-विशेष से नहीं। अथवा यह प्रश्न के रूप में हो सकता है कि—रूपकातिशयोक्ति के द्वारा जैसे विभावादि जाने जाते हैं उनका उस रूप में बहिःसद्भाव होता है या नहीं? (ग) 'अमीषाम्' पद का अर्थ है विभावादिकों का बहिःसद्भाव जैसा होता है आलम्बनादि भाव में वह अपेक्षित नहीं है। तब क्या अपेक्षित है? सामान्यात्मना शब्दोपाधित्वेन अपेक्षित है अर्थात् देशकाल आदि से अनुगत रूप न होकर शब्दोपहित रूप के द्वारा सभी देश में, सभी काल में, सभी अवस्थाओं में सभी के प्रति तद्भाव भावित होते हैं। शब्दोपहित रूप से विभावादि के उपयोग में विद्वानों की सम्मति देते हुए भर्तृहरि की एक कारिका उद्धृत की गई है; जिसका तात्पर्य यह है

तत्रालम्बनविभावो यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ [विक्रमो० १.१०]

उद्दीपनविभावो यथा—

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्वः
परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै-
र्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति॥'

कि यद्यपि काव्य में कंसादिक विभाव शब्द से ही बोधित होते हैं, साक्षात् उपस्थित नहीं होते, परन्तु पूर्वोक्त विभावन व्यापार के बल से सहृदयों को वे सामने खड़े से दिखाई देते हैं। इस प्रकार वहाँ वस्तु [सीता-राम आदि] की शून्यता नहीं है। (घ) षट्सहस्री के नामकरण के विषय में भावप्रकाशकार के अनुसार नाट्यशास्त्र की दो पाठ-परम्पराओं में १. बृहत्पाठ [बारह हजार श्लोक का] 'द्वादश-सहस्री' २. और लघु पाठ [छः हजार श्लोक का] 'षट्सहस्री' कहलाता है।

उनमें **आलम्बन विभाव** का उदाहरण इस प्रकार है [विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा की रति के आलम्बन रूप उर्वशी का इस प्रकार वर्णन है]—

'इसके बनाने के समय ब्रह्मा का कार्य क्या कान्तिदायक चन्द्रमा ने किया था? अथवा शृङ्गार रस के अनन्य देवता कामदेव ने स्वयं इसे रचा है? किंवा, कुसुमाकर वसन्तमास चैत्र इसका विधाता है? दिन-रात वेद पाठ करने से जड़ीभूत हुए पुराने मुनि ब्रह्मा जी ऐसा मनोहर रूप कैसे बना सकते हैं? उनका तो कौतूहल [उत्कण्ठा या प्रेम] विषयों से एकदम हट गया है। फिर वह इस अद्भुत शृंगार मूर्ति की रचना कैसे कर सकते हैं?'

परिष्कार—इस श्लोक में उर्वशी के लावण्य, शृंगार एवं सौन्दर्यातिशय का प्रतिपादन किया गया है; क्योंकि इसके स्रष्टा सामान्य रूप से चन्द्र ही हैं; क्योंकि वह कान्त-प्रभ हैं; और विशेष रूप से भी इसके स्रष्टा कामदेव ही हैं; क्योंकि वह शृंगारिक हैं अथवा मधुमास ही स्रष्टा है। भला वेदाभ्यास से जड़ बुद्धि वाले किंवा विषयों से विरत हृदय वाले ब्रह्मा का क्या सामर्थ्य जो ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कर सकें।

उद्दीपन विभाव का उदाहरण इस प्रकार है—

'कर्पूर के समान गौर वर्णवाला तथा चाँदनी से सारे विश्व को धकर स्वच्छ करो देने वाला यह चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल आकाश में उदित हो रहा है। सीधी-सीधी रजत की स्वच्छ शलाकाओं से स्पर्धा रखने वाले चरणों [किरणों] से यह संसार निर्मल एवं कोमल मृणाल के पिंजरों में रखा हुआ सा सुशोभित हो रहा है।

[इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में चाँदनी रूप उद्दीपन विभाव का प्रतिपादन है।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः । एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद्भावकानुभवकर्मतयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते । विकारो भावसंसूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया, इह तु तेषां कारणत्वमेव । यथा ममैव—

'उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया ।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः ॥' [धनिकस्य]

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः ।

अनुभाव

[सहृदयस्थ रति आदि] भावों की सूचना करने वाले विकार [अर्थात् शारीरिक परिवर्तन। ही 'अनुभाव' हैं ॥

अर्थात् सामाजिकों को [रत्यादि] स्थायी भावों का अनुभव कराने वाले एवं रस का परिपोष करने वाले भ्रूविक्षेप तथा कटाक्ष आदि 'अनुभाव' हैं। [अनुभाव नामकरण इसलिए है] क्योंकि ये अभिनय तथा काव्य में अनुभावित होने वाले रसिकों के साक्षात् अनुभव के कर्म [= विषय] के रूप में अनुभूत होते हैं । इसलिए रसिकों में इनका अनुभवन [=पश्चात् उत्पत्ति] होने से इन्हें अनुभाव कहा गया है। कारिकागत—'विकारो भावसंसूचनात्मकः' भावों को सूचित करने वाला विकार अनुभाव है—यह कथन लौकिक रस की दृष्टि से ही है । यहाँ [अर्थात् नाट्य अथवा काव्य में] तो ये [अनुभाव रस-परिपोष के] कारण ही होते हैं ।

अनुभाव का उदाहरण जैसे मेरा [=धनिक का] ही पद्य इस प्रकार है—कोई दूती किसी अत्यन्त सुन्दरी नायिका से उसकी रूप-सम्पदा की प्रशंसा करते हुए कहती है—

'हे मुग्धे, तेरे मुँह पर बार-बार जँभाई आ रही है, स्तन-प्रान्त बार-बार उल्लसित हो रहे हैं, चञ्चल भौंहें बार-बार घूम रही हैं, सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है, अत्यधिक उत्सुकता के कारण लज्जा दूर हो गई है, सारे शरीर में रोमांच का प्रादुर्भाव हो गया है, तू जिसके ऊपर क्षीरसिन्धु के स्वच्छ फेन के सदृश अपनी सुन्दर स्वच्छ कटाक्ष छटा फेंकती है, वह अत्यन्त सुन्दर परम सौभाग्यशाली युवक धन्य हैं ।

इत्यादि' बातों को रसों के प्रसङ्ग में उदाहरणों के द्वारा क्रमानुसार स्पष्ट किया जाएगा ।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥ ३ ॥

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते । तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावानुगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' [ना० शा० ७. ५-६] इति ॥

अथ भावः—

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः । तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितम् वासितम' [ना० शा० ७. १] इति ।

परिष्कार—(क) लोक में नायक नायिका का प्रेम लौकिक रस है । नाटक अथवा काव्य का रस जिनका आस्वादन सामाजिकों द्वारा किया जाता है अलौकिक रस है । (ख) नाट्यशास्त्र के अनुसार अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय' इति । (ना. शा. ७. ४) अर्थात् इससे वाणी, अङ्ग एवं सत्त्व से किए गए अभिनयों का अनुभव करते हैं । वस्तुतः नाट्य में जिस वाचिकादि अभिनयों के द्वारा नाना प्रकार के अङ्ग एवं उपाङ्गों से सम्बद्ध अर्थ का सामाजिक लोग अनुभव करते हैं वे अनुभाव कहे गए हैं ।

ये दोनों [विभाव और अनुभाव लौकिक] रस के कारण तथा कार्य हैं तथा लोक व्यवहार में इनका प्रत्यक्ष दर्शन होने से ये व्यवहार गम्य हैं [इसीलिए इनका पृथक् लक्षण नहीं किया गया] ॥ ३ ॥

अर्थात् ये दोनों विभाव तथा अनुभाव लौकिक रस के प्रति हेतु तथा कार्य हैं और लौकिक व्यवहार से ही अवगत होते हैं । अतः इनके पृथक् लक्षण की आवश्यकता नहीं है । जैसा कि [भरत के द्वारा] कहा भी गया है—'विभाव और अनुभाव लोक से ही सिद्ध हैं, ये दिन रात लौकिक व्यवहारों में आया करते हैं और लौकिक व्यवहारों के द्वारा जाने जा सकते हैं । इसलिए इनका पृथक् लक्षण नहीं दिया जा रहा है ।'

प्रथम कारिकागत विभाव, अनुभाव आदि में आए हुए 'भाव' सामान्य का लक्षण आवश्यक होने से अब उसका प्रतिपादन किया जा रहा है ।

भाव

अब **भाव** का निरूपण करते हैं—

[नाट्य में अनुकार्य राम आदि को आश्रय बनाकर वर्णित] सुख दुःख आदि भावों के द्वारा भावक [=रसिक] के चित्त को भावित [=वासित] करना ही 'भाव' कहलाता है ॥

अर्थात् रूपक में राम आदि अनुकार्य को आश्रय करके उपनिबद्ध किए गए सुख-दुःख आदि रूप भावों के द्वारा रसिक के अन्तर्वर्ती तद्-तद् भावों के भावन को ही 'भाव' कहते हैं जैसा कि [नाट्यशास्त्र में] कहा भी है—'अहो इस रस से अथवा गन्ध से यह वस्तु भावित अर्थात् वासित [सुगन्धित] कर दी गई है ।'

यत्तु 'रसान् भावयन् भावः' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भावः' इति [ना० शा० ७.२] च, तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः ॥

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥ ४ ॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं=सत्त्वं, यदाह—'सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते' [ना० शा० ७.९४-९५] एतदेवास्य सत्त्वं

परिष्कार—शकुन्तला के विरह से दुःखित दुष्यन्त को देखकर जो उसके दुःख के साथ हमारी तन्मयता [एकतानता] हो उठती है वही भाव है। यह हम सामाजिकों के हृदय को उसी प्रकार वासित कर देते हैं जैसे धूपबत्ती की सुगन्ध समीपस्थ प्रदेश को वासित कर देती है।

और जो [भरत के द्वारा] यह कहा गया है कि 'रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते हैं' अथवा 'कवि के आन्तरिक भावों को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते हैं' वह तो अभिनय [नाट्य] तथा काव्य के लिए प्रयुक्त होने वाले भाव शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त कथन है और ये भाव दो तरह के होते हैं—१. स्थायी, और २. व्यभिचारी—जिनका आगे वर्णन किया जाएगा।

परिष्कार—शंका यह होती है कि भरत के द्वारा की गई भाव शब्द की व्युत्पत्ति धनञ्जय से विपरीत होने के कारण अग्राह्य है। इस सम्बन्ध में धनिक का यह उत्तर है कि भरत की उपरोक्त दो व्युत्पत्तियाँ उस भाव शब्द की हैं जो अभिनय एवं काव्य की बोधक हैं और जिनका प्रयोग उन्हीं काव्यों से सम्बद्ध भाव के लिए होता है अर्थात् भरत के द्वारा प्रथम लक्षण भावात्मक काव्य को दृष्टि में रखकर और दूसरा भावात्मक अभिनय को दृष्टि में रखकर बनाया गया है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में की गई भाव शब्द की व्युत्पत्ति रसिक के हृदय को भावित करने वाले भाव की दृष्टि से की गई है। अतः दोनों ही व्युत्पत्तियों में विषय भेद के कारण ग्रन्थकार और प्राचीन आचार्य के लक्षणों में परस्पर विरोध नहीं है।

सात्त्विक भाव

यद्यपि सात्त्विक-भाव में अनुभावत्व है; किन्तु सत्त्व [=मनः विकार] से उत्पन्न होने के कारण इनकी गणना अन्य अनुभावों से पृथक् रूप से की जाती है अर्थात् सात्त्विक भाव अलग से भाव माने जाते हैं। [सत्त्व का अर्थ है अनुकार्य राम आदि के सुख दुःख आदि] भाव से भावक के चित्त को भावित करना ॥ ४-५ ॥

दूसरे के सुख दुःख आदि बातों में अपने अन्तःकरण को उसके अत्यन्त अनुकूल अर्थात् तन्मय बना लेने का नाम सत्त्व है जैसा कि [भरत ने] कहा भी है—'मन से उत्पन्न होने वाले भाव को सत्त्व कहते हैं, और वह सत्त्व मन के समाहित [एकाग्र] होने पर उत्पन्न होता है।' इस मन का सत्त्व यही है कि इसके द्वारा दूसरे के दुःख में

यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन वाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते। तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकाः। तद्भावभावनं च भावाः। तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः, भावसंसूचनात्मक-विकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेतेषाम्।

ते च—

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथूः ॥ ५ ॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥ ६ ॥

यथा—

'वेवइ सेअदवदनी रोमञ्चिअ गत्तिए ववइ।
विललुल्लु तु वलअ लहु वाहोअल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्घेण।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिजइ ॥'

अथवा हर्ष में खिन्न होकर या हर्षित होकर रसिक के अश्रु तथा रोमाञ्च आदि स्वयं निकल पड़ते हैं। उस सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण वे भाव सात्त्विक ही होते हैं और उनसे उत्पन्न होने के कारण अश्रु आदि भी सात्त्विक भाव कहे जाते हैं। दूसरी ओर ये अश्रु आदि दुःख आदि भावों के सूचनात्मक विकार होने के कारण अनुभाव भी कहलाते हैं इस प्रकार इन अश्रु आदि भावों की [सात्त्विक भाव तथा अनुभाव के रूप में] द्विरूपता है।

और वे [सात्त्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं]—

१. स्तम्भ, २. प्रलय [चेतनाविहीन], ३. रोमाञ्च, ४. स्वेद, ५. वैवर्ण्य [मुँह का रंग फीका पड़ना], ६. वेपथु [कम्प], ७. अश्रु, ८. वैस्वर्य [स्वर-भंग या आवाज परिवर्तन]—ये आठ [सात्त्विक भाव हैं]। अङ्गों के निष्क्रिय हो जाने को अर्थात् कर्मेन्द्रियों के सारे व्यापार के अचानक रुक जाने का नाम 'स्तम्भ' है। संज्ञाविहीन [मूर्छित] हो जाना ही 'प्रलय' है। शेष नामों के स्वरूप स्पष्ट ही हैं ॥ ५-६ ॥

[सभी सात्त्विक भावों का उदाहरण इस प्रकार है। कोई दूती किसी नायक को उसके विरह में होने वाली अपनी सखी की [विरहजन्य] पीड़ा का वर्णन कर रही है कि तुम्हारे प्रेम के कारण वह बिल्कुल धैर्य धारण नहीं करती]। 'उसके चेहरे पर पसीना आ जाता है, उसके शरीर में रोंगटे उठ आते हैं, तथा वह काँपने लगती है। उसका चंचल कड़ा [हाथ का वलय] बाहुरूपी लता में मन्द-मन्द शब्द करता हुआ खनकता है।

('वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्लघां रणति ।।
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन ।
मुग्धा भुजवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ।।')

अथ **व्यभिचारिणः** । तत्र सामान्यलक्षणम्—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।। ७ ।।

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावास्त्यभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः ।

ते च—

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तिनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः समतिरलसतावेगतर्काविहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ।। ८ ।।

उसका मुँह काला पड़ जाता है, तथा क्षण भर के लिए मूर्छित हो जाती है । इस प्रकार उसकी भोली-भाली मुखरूपी लता अब धैर्य धारण करने में असमर्थ है ।'

व्यभिचारी भाव

अब व्यभिचारीभाव का निरूपण किया जा रहा है । उनमें व्यभिचारीभाव का सामान्य लक्षण इस प्रकार है—

विशेष रूप से स्थायीभाव के अभिमुख होकर [अनुकूलता के साथ] चलने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं; जैसे समुद्र में तरङ्गें उठती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं वैसे ही रति आदि स्थायी भावों में ये व्यभिचारीभाव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं ।। ७ ।।

अर्थात् जैसे सागर के होने पर ही तरंगें उत्पन्न होती हैं और उसमें विलीन हो जाती हैं वैसे ही रत्यादि स्थायी भाव के होने पर ही उनके अनुकूल होकर [चरन्तः अर्थात्] वर्तमान रहकर निर्वेदादि व्यभिचारी-भाव आविर्भूत होते रहते हैं और तिरोहित होते रहते हैं ।

और वे,

व्यभिचारीभाव तैंतीस होते हैं—१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. शंका, ४. श्रम, ५. धृति, ६. जडता, ७. हर्ष, ८. दैन्य, ९. उग्रता, १०. चिन्ता, ११. त्रास, १२. असूया, १३. अमर्ष, १४. गर्व, १५. स्मृति, १६. मरण, १७. मद, १८. सुप्त, १९. निद्रा, २०. विबोध, २१. व्रीडा, २२. अपस्मार, २३ मोह, २४. मति, २५. अलसता, २६. आवेग, २७. तर्क, २८. अवहित्था, २९. व्याधि, ३०. उन्माद, ३१. विषाद, ३२. औत्सुक्य और ३३. चपलता ।। ८ ।।

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ।। ९ ।।

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
संप्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ।।' [वैराग्य० ६७]

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ।।'

ईर्ष्यातो यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः ।

---

१. उनमें **निर्वेद** [नामक प्रथम व्यभिचारी भाव का निरूपण करते हैं]—

तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण स्वयं का तिरस्कार [=अवहेलना] **करना निर्वेद** [नामक व्यभिचारी भाव] **कहलाता है । इस** [दशा] **में चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, मुख विवर्णता और दैन्य** [अनुभाव] **हुआ करते हैं ।। ९ ।।**

(i) तत्त्वज्ञान से होने वाले निर्वेद का उदाहरण 'वैराग्यशतक' में इस प्रकार है—

'अनेक व्यापारों से सकल कामनाओं को पूरी करने वाली सम्पदायें यदि प्राप्त कर लीं तो उससे क्या हुआ ? निज पराक्रम द्वारा शत्रुओं के मस्तक पर पैर रखा अर्थात् सभी शत्रुओं को पदाक्रान्त कर लिया तो उससे क्या ? सम्पत्ति या ऐश्वर्य से प्रेमी गणों का संग्रह किया तो उससे क्या ? अथवा तपश्चरणादि से मनुष्यों के शरीर कल्प-प्रलय पर्यन्त तक बने रहें तो उससे भी क्या लाभ ?'

(ii) आपत्ति से होने वाले निर्वेद का उदाहरण इस प्रकार है—

'मेरे द्वारा इस कटु और निष्फल चिरजीवन का यह फल भोगा जा रहा है कि राजा से विपत्ति, बन्धु-बन्धवों के वियोग से उत्पन्न दुःख, देश-निष्कासन और दुर्गम मार्गों में गमन की पीड़ा हो रही है ।'

(iii) ईर्ष्या से होने वाले निर्वेद का उदाहरण [हनुमन्नाटक] में इस प्रकार है—

[जब श्रीरामचन्द्रजी लंका में राक्षसों का ध्वंस कर रहे थे उस समय अपने वीरों की भर्त्सना करते हुए और शत्रु की तुच्छता सूचित करते हुए रावण की गर्व भरी क्रोधोक्ति इस प्रकार है]—'इन्द्रविजेता मेघनाद को धिक्कार है, और जगाए हुए कुम्भकर्ण

धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥' [हनु० ना० १४.६]

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा—

'ये बाहवो न युधि वैरकठोरकण्ठ-
पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग-
संक्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥'

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः । एवं रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः ।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्माद्यतः श्रूयताम् ।

से भी क्या काम चला ? स्वर्गरूपी क्षुद्र ग्राम को लूटने वाली मेरी इन शक्तिशाली भुजाओं से भी क्या ? धिक्कार है मुझे कि मेरा भी शत्रु है, वह भी तपस्वी, सो भी मेरे सामने मेरे राक्षस योद्धाओं का नाश करता है ओह ! फिर भी रावण जीवित है ।'

(iv) वीर रस और शृङ्गार रस में आने वाले व्यभिचारी निर्वेद का उदाहरण इस प्रकार है—

'जिनकी भुजाओं के कन्धे शत्रुओं के कठोर कण्ठ से छलकते हुए रुधिर से सुशोभित नहीं हुए और जिसके हाथ प्रियतमा के विशाल स्तनमण्डल के ऊपर पत्र-भङ्ग की रचना करते समय कुंकुम रूप रंग से रंजित न हो सके, ऐसे लोगों का जीवन निश्चय ही निष्फल है ।'

प्रस्तुत उक्ति ऐसे वीर पुरुष के निर्वेद की सूचक है जिसे या तो अपना पुरुषार्थ दिखलाने के लिए अपने अनुकूल शत्रु की प्राप्ति नहीं हो पायी थी, अथवा किसी ऐसे विलासी पुरुष के निर्वेद की सूचक है जिसे अपने मनोनुकूल सुन्दर रमणी को प्राप्ति नहीं हो पायी थी । [प्रस्तुत सन्दर्भ में वीर एवं शृङ्गार रस के अङ्ग के रूप में निर्वेद नामक भाव का चित्रण किया गया है] । इसी प्रकार निर्वेद को अन्य रसों के अङ्ग के रूप में भी उदाहरित किया जा सकता है ।

(v) जहाँ निर्वेद किसी रस का अङ्ग नहीं रहता ऐसे स्वतंत्र निर्वेद का उदाहरण इस प्रकार है—

'अरे, तुम कौन हो ? बताता हूँ, मुझे भाग्य का मारा [अभागा] शाखोट [सिहोरा नामक वृक्ष विशेष] जानो । कुछ वैराग्य से कह रहे हो—ऐसा जान पड़ता है । ठीक समझे । ऐसे क्यों कह रहे हो [क्या बात है] । तो सुनो । यहाँ से बायीं ओर [रास्ते से

वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥'

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदर्शनीयः ॥

अथ ग्लानिः—

रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥ १० ॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः । अस्यां च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः ।

यथा माघे—

'लुलितनयनतारा: क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः ।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा-
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥' [शिशु ११.२०]

शेषं निर्वेदवद्बूह्यम् ॥

हटकर उलटी] ओर बड़ा वट का वृक्ष है । पथिक लोग [उसके नीचे लेटने, बैठने, रोटी बनाने, सोने आदि में] सब प्रकार से उसका सहारा लेते हैं और ठीक रास्ते में खड़ा होने पर भी मेरी छाया से भी किसी का उपकार नहीं होता [इसी बात का मुझे दुःख है] ।'

इस प्रकार यह निर्वेद विभाव, अनुभाव तथा रस के अङ्ग रूप से तथा स्वतन्त्र रूप से अनेक प्रकार का दिखलाया जा सकता है ।

२. अब **ग्लानि** [नामक द्वितीय व्यभिचारी भाव का निरूपण करते हैं]—

रति क्रीड़ा-जन्य परिश्रम, प्यास और क्षुधा से होने वाली निष्प्राणता [शक्तिहीनता] ही 'ग्लानि' है । इसमें वैवर्ण्य [मुख का फीका पड़ना], कम्प, अनुत्साह तथा शरीर, वचन व क्रिया की क्षीणता आदि [अनुभाव] दृष्टिगत होते हैं ॥ १० ॥

बार-बार सुरतक्रीड़ा से होने वाली थकान प्यास, भूख एवं वमन आदि से होने वाली निर्बलता रूप ग्लानि होती हैं; और इसमें मुख विवर्णता, कम्प एवं अनुत्साह आदि अनुभाव होते हैं । जैसे माघ [के शिशुपालवध] में—

'नींद से भरी हुई नेत्रकनीनिकाओं वाली [चन्द्रनक्षत्र वाली] रमणक्रीड़ा से क्षीण मुखचन्द्र वाली तथा निद्रा-क्लान्त नीलकमल जैसी आँखों वाली अन्धकार के समान खुले हुए घने एवं काले केशपाश को धारण करती हुई ये वाराङ्गनाएँ राजा के भवनों से [प्रभात के समय] जा रही हैं ।'

[विभावादि भेद से होने वाले ग्लानि के] शेष प्रकारों को निर्वेद के ही समान समझ लेना चाहिए ।

अथ शङ्का—

अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
कम्प[1]शोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥ ११ ॥

तत्र परक्रौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

'ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥' [रत्ना० ३.४]

स्वदुर्नयाद्यथा वीरचरिते [२.१]—

'दूराद्वीयो धरणोधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्बधघूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥'

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम् ॥

---

३. अब शङ्का [नामक तृतीय व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

दूसरे की क्रूरता या अपने ही दुर्व्यवहारों से भावी अनर्थ की जो आशंका पैदा होती है उसे 'शङ्का' कहते हैं। इसमें कम्पन, शोष अर्थात् सूखना, चिन्तायुक्त दृष्टि-विक्षेप, विवर्णता और स्वरभङ्ग आदि [अनुभाव] होते हैं ॥ ११ ।

(i) उनमें, दूसरे की क्रूरता से होने वाली 'शङ्का', जैसे 'रत्नावली' नाटिका में महाराज उदयन रत्नावली के बारे में इस प्रकार कह रहे हैं—

'सब लोगों को [मेरा वत्सराज के प्रति प्रेम] विदित हो गया है ऐसा समझ कर [सागरिका] सबसे मुख छिपाती है, [कहीं] दो व्यक्तियों को बात करते देखकर यह समझती है कि ये लोग मेरे विषय में ही बात कर रहे हैं। सखियों के मुस्कराने पर और भी अधिक शरमा जाती है। इस प्रकार प्रिया [सागरिका] प्रायः हृदय में बैठे हुए आतङ्क [भय] से पीड़ित रहती है।'

(ii) अपने दुर्व्यवहार से होने वाली शङ्का का उदाहरण 'महावीरचरित' में [रावण के मन्त्री माल्यवान् की उक्त में] इस प्रकार है—

'जिसने पर्वत-सदृश विशाल शरीर वाले ताड़का के पुत्र मारीच को तिनके के समान बहुत दूर फेंक दिया, जो सुबाहु नामक राक्षस का हन्ता एवं ताड़का का संहारक है वे ही राजकुमार [राम] मेरे हृदय में संताप पहुँचा रहे हैं।'

इसी प्रकार शङ्का के अन्य भेदों को भी समझ लेना चाहिए।

---

१. 'शोका°' इति वा पाठः ।

अथ श्रमः—

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥' [उत्तर० १.२४]

रतिश्रमो यथा माघे—

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥' [शिशु० १०.८०]

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ॥

अथ धृतिः—

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १२ ॥

ज्ञानाद् यथा भर्तृहरिशतके—

---

४. अब **श्रम** [नामक चतुर्थ व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

मार्ग में चलने के कारण अथवा रति आदि के कारण होने वाले खेद को 'श्रम कहते हैं। इसमें स्वेद [पसीना निकलना] तथा मर्दन आदि अनुभाव होते हैं ॥

(i) मार्गजनित श्रम का उदाहरण 'उत्तररामचरित' में इस प्रकार है [राम सीता से कहते हैं]—

'[चित्रकूट को जाने वाले मार्ग में] जहाँ तुम मार्ग में चलने के परिश्रम से आलस्य-युक्त, कोमल और सुन्दर दृढ़ आलिङ्गनों से दबाए गए और परिमर्दित कमल की डंडियों के सदृश दुर्बल अङ्गों को मेरी छाती पर रख कर सो गई थी [वही यह स्थान है]।'

(ii) रतिजन्य-श्रम का उदाहरण शिशुपालवध में इस प्रकार है—

'[सुरतजन्य श्रम के कारण] कठिनाई से स्तनभार को ढो सकने वाली, काले एवं लम्बे केशों वाली रमणियाँ कामानुराग के सुरत की पराकाष्ठा [चरम सीमा] को पाकर ऐसी थक गयीं कि पसीने के जल से गीले [भींगे हुए, उन रमणियों के] ललाट पर केश चिपक गए।'

इसी प्रकार से अन्य [रसाङ्गत्वादि] को भी समझ लेना चाहिए।

५. अब **धृति** [नामक पाँचवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

ज्ञान अथवा शक्ति आदि के कारण होने वाला अप्रतिहत आनन्दवायक संतोष ही 'धृति' है [व्यग्रतारहित-भोग ही उसका अनुभाव है] ॥ १२ ॥

(i) ज्ञान से होने वाले धृति का उदाहरण भर्तृहरि के वैराग्यशतक में इस प्रकार है—

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥' [वैराग्य० ५३]

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥ [रत्ना० १.९]

इत्याद्यूह्यम् ॥

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥ १३ ॥

'मैं वल्कल से ही प्रसन्न हूँ और तुम लक्ष्मी की प्राप्ति से । हम दोनों ही प्रसन्न हैं, हम लोगों की प्रसन्नता में कोई अन्तर नहीं है । [बात ठीक भी है], दरिद्र तो है वह जिसके पास विशाल तृष्णा पड़ी हुई हो । मन की प्रसन्नता ही प्रधान वस्तु है । मन प्रसन्न है तो कौन धनी है और कौन गरीब ?'

(ii) शक्ति से होने वाली धृति का उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका में [विदूषक के प्रति वत्सराज उदयन की उक्ति में इस प्रकार है]—

'राज्य के शत्रु पूर्ण रूप से जीते जा चुके हैं, योग्य मन्त्री पर सारे [राज्य का] भार रख दिया गया है । भलीभाँति पाली-पोसी प्रजाएँ सभी उपद्रवों से रहित हैं । प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता [मेरे पास] हैं, वसन्त का समय है । तुम भी मौजूद हो । इस प्रकार भले ही कामदेव अपने ['मदनोत्सव'—इस] नाम के कारण सन्तोष प्राप्त कर ले, किन्तु सब तरह से मानों यह महोत्सव मेरे ही लिए है [अर्थात् कामदेव का तो नाम मात्र का ही सरोकार है जबकि मेरे लिए तो यह महान् उत्सव ही है] ।'

इसी प्रकार अन्य को भी समझ लेना चाहिए ।

[यह उदाहरण दश० २.३ में भी उद्धृत है] ।

६. अब **जडता** [नामक छठवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

किसी इष्ट [प्रिय] अथवा अनिष्ट [अप्रिय] वस्तु को देखने या सुनने आदि के कारण कुछ क्षणों के लिए कार्य करने न करने की योग्यता के खो जाने [किंकर्तव्य-विमूढ़ता] को 'जडता' कहते हैं । इसमें निर्निमेष-दृष्टि [पलकों को बिना गिराए देखना] तथा चुप हो जाना आदि अनुभाव होते हैं ॥ १३ ॥

इष्टदर्शनाद् यथा—

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥' [कुमार० ८.५]

अनिष्टश्रवणाद् यथोदात्तराघवे—'राक्षसः—

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः ।
येषां नायकतां यातास्त्रिशिरःखरदूषणः ॥

द्वितीयः—गृहीतधनुषा रामहतकेन । प्रथमः—किमेकाकिनैव ? । द्वितीयः—अदृष्ट्वा कः प्रत्येति ? पश्य तावतोऽस्मद्बलस्य—

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः ।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥

प्रथमः—सखे, यद्येवं तदाहमेवंविधः किं करवाणि ।' इति ।

तथा च 'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन' [कुमार ३.७३] इत्यादि ॥

अथ हर्षः—

(i) इष्ट दर्शन से होने वाली जडता का उदाहरण कुमारसम्भव में इस प्रकार है—

यद्यपि सखियाँ पार्वती जी को इस प्रकार सिखाती थीं कि—'हे सखि ! भय को छोड़कर एकान्त में इस प्रकार शंकर जी के साथ व्यवहार करना'—किन्तु शिवजी के सामने आते ही वह इतनी घबरा जाती थीं कि सखियों के उपदेश याद ही नहीं पड़ते थे ।

(ii) अनिष्टश्रवणजन्य जडता का उदाहरण 'उदात्तराघव' नाटक में इस प्रकार है—

राक्षस—'ऐसे-ऐसे वीर राक्षसों को जिनके सेनापति प्रसिद्ध योद्धा खरदूषण तथा त्रिसिरा आदि थे, किसने मारा ?'

दूसरा [राक्षस]—धनुर्धारी नीच राम ने । **पहला [राक्षस]**—क्या अकेले ही ? **दूसरा [राक्षस]**—बिना देखे भला किसको विश्वास होगा ? तो फिर हमारी सेना की दशा देखो—

'तत्काल कटे हुए शिरों के गड्ढों में दौड़कर झपटते हुए कङ्क नामक पक्षियों से घिरे हुए ताड़ के समान विशाल एवं रक्त में सने हुए कबन्ध [धड़] ही समररूपी आँगन में दिखाई पड़ रहे हैं ।'

पहला [राक्षस]—मित्र यदि ऐसी बात है तो फिर हम लोगों के लिए क्या करना उचित है ?

अथवा, जैसे—'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन' इत्यादि कुमारसम्भव ३.७३ के श्लोक में अनिष्टश्रवणजन्य जड़ता है ।

७. अब **हर्ष** [नामक सातवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतःप्रसादः=हर्षः । तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः । यथा—

'आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे ।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनादरा-
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥' [अद्भुतपण्यस्य]

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ॥

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं काष्ण्यर्मृजादिमत् ॥ १४ ॥

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनौजस्कता चेतसः=दैन्यम् । तत्र च कृष्णतामलिनवसनदर्शनादयोऽनुभावाः । यथा—

उत्सव आदि से होने वाली [चित्त की] प्रसन्नता ही 'हर्ष' है । इसमें अश्रु, स्वेद तथा गद्गद्-चित्त होना आदि अनुभाव होते हैं ॥

प्रिय का आगमन तथा पुत्रोत्पत्ति के उत्सव आदि विभावों से जो मन प्रसन्नता होती है उसे 'हर्ष' कहते हैं । उसमें अश्रु, स्वेद और गद्गद् हो जाना आदि अनुभाव होते हैं । जैसे [प्रिय के आगमन से होने वाले हर्ष का उदाहरण अमरुशतक में इस प्रकार है]—

[प्रोषितपतिका नायिका का पति जब ऊँट की सवारी से उसके पास पहुँचा तब] 'प्रियतम के घर आने पर मरुस्थल की भूमि को पार करने की कठिनाई को समझकर गृहणी सन्तोष के आँसुओं से भरी हुई अपनी दृष्टि को प्रियतम के मुख पर डालकर [विशाल रेगिस्तान को पार करने में सहायक] ऊँट को पीलु [खजूर], शमी तथा करील [बबूल] के ग्रासों को देकर अत्यन्त आदर के साथ अपने आँचल से ऊँट के बच्चे के गर्दन के बालों पर लगी हुई धूल को पोंछ दिया ।'

अन्य [रसाङ्गत्वादि को भी] निर्वेद के ही समान समझ लेना चाहिए ।

८. अब **दैन्य** [नामक आठवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

दुर्गति आदि से उत्पन्न ओजस्विता के अभाव को 'दैन्य' कहते हैं । इसमें मुख की मलिनता और वस्त्रों की अस्वच्छता आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ १४ ॥

दारिद्र्य एवं तिरस्कार आदि विभावों से होने वाली चित्त की उदासीनता को 'दैन्य' कहते हैं, और उस [दशा] में चेहरे का रङ्ग काला पड़ जाना, वस्त्रों तथा दाँतों का मलिन हो जाना आदि अनुभाव होते हैं ।

जैसे [भोजप्रबन्ध में दारिद्र्य-जन्य दैन्य का वर्णन कोई वृद्धा रोते हुए इस प्रकार कर रही है]—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽम्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥' [भोज० २५५]

शेषं पूर्ववत् ॥

अथौग्र्यम्—

दृष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १५ ॥

यथा वीरचरिते [२. ४८]—'जामदग्न्यः—

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा-
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥'

अथ चिन्ता—

'यह बूढ़ा और अन्धा पति टूटी-खाट पर पड़ा है, घर में स्थूणा [थूनी=छप्पर में टेक लगाने का लकड़ी का खम्भ] मात्र शेष है, बरसात सिर पर आ धमकी है और [प्रवासी] पुत्र का भी कोई कुशल समाचार नहीं मिला है, जैसे-तैसे इकट्ठा किए गए तेल की हंड़िया भी फूट गई, इससे व्याकुल सास, आसन्नप्रसवा पुत्रवधू को देखकर देर तक रोती रही ।'

शेष बातें [निर्वेद आदि में कही गई] पूर्ववत् ही जाननी चाहिए ।

९. अब **उग्रता** [नामक नौवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

किसी दुष्ट के दुष्कर्म, दुर्वचन एवं क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रचण्ड हो जाने को 'उग्रता' कहते हैं । उस [अवस्था] में स्वेद का आना, सिर काँपना, धमकाना और दूसरे को मारने पर उतारू हो जाना आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ १५ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम [राम से इस प्रकार कह रहे हैं]—

'क्षत्रियों की सन्तति-मात्र पर प्रकुपित हो मैंने इक्कीस बार सभी ओर से उन राजवंशोद्भव वीरों का संहार किया और संहार करते समय गर्भ में पड़े हुए उनके बच्चों को भी निकाल-निकाल कर टुकड़े-टुकड़े कर डाले, और क्षत्रियों के रक्त से भरे हुए सरोवरों में स्नान जन्य अत्यधिक आनन्द से क्रोधाग्नि को शान्त करके पितृ-तर्पण करने वाले मुझ उद्धत-कर्म करने वाले को देखते हुए भी मेरा स्वभाव क्या अभी तक प्राणियों को अविदित ही है ?'

१०. अब **चिन्ता** [नामक दसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षी सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥

यथा वा—

'अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता ।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ॥'

अथ त्रासः—

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥ १६ ॥

अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति न होने पर उसी के विषय में ध्यान बनाए रखना 'चिन्ता' है। इसमें [अभीष्ट प्राप्त न होने के कारण] जीवन का शून्य मालूम होना एवं सांस-प्रश्वास का ज़ोर से चलना आदि अनुभाव पाए जाते हैं और यह सन्ताप उत्पन्न करने वाली होती है ॥

जैसे [कोई दूती प्रियतम के वियोग से किसी प्रोषितपतिका से कह रही है]—

'हे बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुन्दरी ! तुम अपनी आँखों की पलकों के अग्रभाग में मोतियों के समान स्वच्छ अश्रुबिन्दुओं को भरकर और हृदय में भगवान् शङ्कर की हंसी के समान स्वच्छ एवं मनोहर हारों को पहनकर तथा कोमल-कोमल कमल-नाल के वलय [=कङ्कण] के आभूषण वाले सुन्दर हाथों के ऊपर अपने मुख को रखकर किस परम सौभाग्यशाली के विषय में सोच रही हो ?'

अथवा, जैसे—

'विषय-वासनाओं में आसक्तिरहित मन वाली, नेत्र-कमलों को बन्द किए हुए, बहुत श्वास-प्रश्वास भरती हुई एवं किसी अलक्ष्य वस्तु का ध्यान करने वाली बाला की दशा योगिनी के समान हो गई। अर्थात् योगियों की तरह नेत्रों को मूँदकर बार-बार सिसकती हुई एकमात्र प्रियतम के विषय में सोच रही है।'

११. अब **त्रास** [नामक ग्यारहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

बादलों की गर्जना आदि से [अथवा इसी प्रकार की अन्य भयप्रद घटनाओं से] उत्पन्न मनःक्षोभ को 'त्रास' कहते हैं। इसमें कम्प आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ १६ ॥

यथा माघे—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरु-
वीमोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥' [शिशु० ८.२४]

अथासूया—

परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा ।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥ १७ ॥

गर्वे यथा वीरचरिते—

'अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्वेष्यान् दाशरथिविरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृष्टः कथं मृष्यते ॥' [महावीर २.९]

दौर्जन्याद् यथा—

जैसे, माघ के शिशुपालवध में त्रास का वर्णन इस प्रकार है—'

'जलविहार में लगी उस सुन्दरी की जांघों से छोटी-सी चञ्चल मछली क्या टकरा पड़ी, उसके हृदय में भय समा गया और विचित्र विभ्रम-विलास प्रारम्भ हो गए। तरुणियों का तो यह स्वभाव ही है कि बिना किसी कारण के ही विक्षोभ-लीला मचाने लगती हैं और यदि कोई कारण मिल जाय तब तो कहना ही क्या।'

१२. अब **असूया** [नामक बारहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

दूसरे की उन्नति न सह सकना ही 'असूया' है। यह 'असूया' गर्व, दुर्जनता तथा क्रोध से उत्पन्न होती है। दूसरे के अन्दर दोष निकालना, अवज्ञा, भौंहें चढ़ाना, मन्यु तथा क्रोधसूचक चेष्टाएँ आदि इसमें दिखाई देती हैं ॥ १७ ॥

(i) गर्व से होने वाली असूया जैसे 'महावीरचरित' में [सीता की प्राप्ति से निराश रावण की राम के प्रति असूया माल्यवान् के द्वारा इस प्रकार वर्णित है]—

'हे प्रभो ! [सीता की प्राप्ति के लिए जनक के सामने] याचकता प्रकट करने पर भी [सीतारूप] फल की प्राप्ति नहीं हुई [यह ही बड़ा अपमान हुआ। पर उससे बढ़ कर अपमान यह हुआ कि सीता आपको न देकर] उलटे आपका विरोध करने वाले शत्रु रामचन्द्र को दे दी। [इस व्यापार से उत्पन्न होने वाले] १. शत्रु [रामचन्द्र] के उत्कर्ष को, २. अपने मान तथा यश के विनाश को और ३. स्त्रीरत्न [की उपेक्षा करने] को संसार के स्वामी दशमुख देव [रावण] कैसे सहन कर सकते हैं।'

(ii) दुष्ट स्वभाव से उत्पन्न होनेवाली असूया, जैसे [सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० ३२५ में आए हुए महेन्द्र कवि के श्लोक में इस प्रकार है]—

'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशोनिन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदन्छ्रममेष्यसि ॥'

मन्युजा यथामरुशतके—

'पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥ [अमरु० ५२]

'ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद्गद् गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥' [अमरु० ५१]

अथामर्षः—

'यदि तुम दूसरे के गुणों को सह नहीं सकते हो तो फिर स्वयं ही गुणों के उपार्जन का प्रयत्न करो । [हाँ यह समझ लो कि] तुम दूसरे के यश को निन्दा के द्वारा धो नहीं सकते । अतः तुमने अपनी इच्छा से अकारण ही दूसरों से द्वेष करना नहीं छोड़ा तो तुम्हारा परिश्रम उसी प्रकार बेकार जायगा जैसे सूर्य की किरणों को रोकने के लिए हाथरूपी छाते का प्रयोग व्यर्थ होता है ।'

(iii) क्रोध से उत्पन्न होने वाली असूया, जैसे 'अमरुशतक' के इस श्लोक में मानिनी नायिका को मनाने में असमर्थ नायक अपने किसी मित्र से कह रहा है]—

'उस तन्वी के सम्मुख [बात-चीत के दौरान] अचानक ही दूसरी प्रिया का नाम [अपने मुख से] निकल जाने के कारण [घबड़ाकर] चकित हुआ सा अभागा मैं लज्जा के मारे सिर नीचे करके अनायास ही [इधर-उधर] कुछ रेखाएँ खींचने लगा । किन्तु [हाय रे दुर्भाग्य कि] वह रेखांकन भी ऐसा हो गया कि उसी रमणी का [जिसका नाम मुँह से निकल गया था] शरीर के सब अवयव हूबहू वैसे ही आ गए जिसमें उसका रूप परिलक्षित होने लगा ।'

'तब उसे पहचान कर उस मानिनी के कपोल मारे क्रोध के लाल होकर फड़कने लगे, और कितना परिपक्व एवं प्रकर्ष-प्राप्त प्रणय [था कि जिसका अन्त ऐसा हुआ यह सोंचकर] सहसा रुद्धकण्ठ हो गद्गद् वाणी से आँखों में आँसूओं भर कर 'अरे ! स्पष्ट ही चित्र है, चित्र है'—ऐसा कहते हुए क्रोध से ब्रह्मास्त्र स्वरूप अपने बाएँ पैर को मेरे सिर पर जड़ ही तो दिया ।'

१३. अब अमर्ष [नामक तेरहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादय ॥ १८॥

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥' [महावीर० ३.८]

यथा वा वेणीसंहारे [१.१२]—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥'

अथ गर्वः—

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।
कर्मण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥ १९॥

किसी के द्वारा किए गए तिरस्कार अथवा अपमान आदि के कारण प्रतीकार में उस व्यक्ति से बदला लेने की भावना को 'अमर्ष' कहते हैं । इसमें पसीने का आना, सिर का कम्पन, भर्त्सनायुक्त वचन एवं मारपीट का उतावलापन आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ १८ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में [परशुराम विश्वामित्र से इस प्रकार कहते हैं]—

'आप पूज्य जनों [की बात] का मैंने अतिक्रमण किया है अतः उसके लिए मैं प्रायश्चित्त कर लूँगा; किन्तु शस्त्रग्रहण रूप अपने महाव्रत [=महान् प्रतिज्ञा] को इस प्रकार दूषित न होने दूँगा ।'

[यह उदाहरण दश० २.२ और २.१३ में भी उद्धृत है ।]

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में भीम सहदेव के द्वारा युधिष्ठिर के पास इस प्रकार सन्देश भेजते हैं]—

'आपके आज्ञा के उल्लंघन रूपी जल में डूबता हुआ मैं, आज्ञापालन में रत भाइयों के बीच निन्दनीय भले ही समझा जाऊँ, किन्तु क्रोध से उद्यत रुधिराप्लावित गदा को घुमाते हुए और कौरवों का संहार करते हुए आज एक दिन के लिए न तो आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं और न तो मैं आपका कनिष्ठ भाई ।'

१४. अब **गर्व** [नामक चौदहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

[अपने] श्रेष्ठ कुल, सुन्दरता, पराक्रम एवं ऐश्वर्य आदि से उत्पन्न होने वाले मद को 'गर्व' कहते हैं । दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखना, तिरस्कार आदि करना तथा विलासपूर्वक [शान की ऐंठ में] अपने अङ्गों को देखना आदि अनुभव इसमें पाए जाते हैं ॥ १९ ॥

यथा वीरचरिते—

'मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियाऽसि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूयदोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥' [महावीर० २.२७]

यथा वा तत्रैव—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥' [महावीर० २.१०]

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥ २० ॥

यथा [हनुमन्नाटके ४.९]—

जैसे 'महावीरचरित' में [परशुराम से भयभीत सीता के 'रक्षा करो, रक्षा करो' कहने पर राम इस प्रकार कह रहे हैं]—

'हे प्रिये ! ये [= परशुराम] मुनि हैं और साथ ही इतने वीर हैं कि ऐसे पुरुष का सम्मान मुझे प्रिय है । हे भय-विह्वल प्रिये ! तुम क्षत्रिय पत्नी हो । अतः इस प्रकार डरकर काँपना छोड़ दो । [क्योंकि] तपस्या में फैली हुई प्रसिद्ध कीर्ति वाले एवं बल के दर्द से खुजला रही भुजाओं वाले परशुराम जी का [दोनों प्रकार का] स्वागत करने में रघुवंशी-क्षत्रिय मैं [राम भी] भलीभाँति समर्थ हूँ ।'

अथवा, जैसे वहीं ['महावीरचरित' में]—

'ब्राह्मणों के अतिक्रमण का परित्याग आपके कल्याण के लिए ही है । अन्यथा तुम्हारे मित्र परशुराम से ही तुम्हारी अनबन हो जायगी ।'

[यह उदाहरण दश० २.६ में भी उद्धृत है] ।

१५. अब **स्मृति** [नामक पन्द्रहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

सादृश्य-ज्ञान [अर्थात् पहले की देखी हुई वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर] अथवा चिन्ता आदि से संस्कार उद्बुद्ध होने के कारण [पहले देखी हुई वस्तु का मन में जो रूप खिंच जाता है वह] 'स्मृति' होती है । [इस प्रकार स्मृति] 'यह तो मुझे ज्ञात है'—इस रूप में किसी वस्तु को अवभासित करने वाली होती है । इसमें भ्रूसमुन्नयन आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ २० ॥

जैसे [हनुमन्नाटक ४.९ में सीता का अपहरण करके आकाशमार्ग से जाता हुआ रावण जटायु को देखकर मन में इस प्रकार सोंचता है]—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं—
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद् भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः ? सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणं
हा ! ज्ञातं, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥'
[महाना० ३.७९]

यथा वा मालतीमाधवे—**'माधवः**—मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतायमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमा स्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्—

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि—
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥' [मालती ५.१०]

'क्या यह सपक्ष मैनाक है ? जो आगे से मेरे अबाधित मार्ग को रोक रहा है । किन्तु उसमें इतनी शक्ति कहाँ ? [कि मेरे सामने आवे । क्योंकि] वह तो इन्द्र के भी वज्र प्रहार से डरा हुआ है । फिर क्या यह गरुड़ है ? किन्तु वह भी तो अपने स्वामी [= विष्णु] के सहित मुझ रावण [के बल] को जानता है । हाँ, अब मालूम हुआ, यह तो [वृद्ध] जटायु है; जो अपने बुढ़ापे से दुःखित होकर [मेरे हाथों] अपना वध चाहता है ।'

अथवा, जैसे 'मालतीमाधव' में—'**माधव**—प्राक्तन ज्ञान से पैदा होने वाले अर्थात् पहले के ज्ञान से उत्पद्यमान, संस्कार के अनवरत प्रबुद्ध होने के कारण प्रतीत होने वाली, दूसरे प्रकार के प्रत्ययों [= ज्ञानों] से अतिरस्कृत [अबाधित] प्रवाह वाली, प्रियतमा [मालती] की स्मृति-रूपी-ज्ञान [=प्रत्यय] की उत्पत्ति की धारा [भावना] वृत्ति-सारूप्य से मेरे चैतन्य को तन्मय-सा [अर्थात् मालतीमय-सा] बना रही है ।

वह प्रिया [मालती मेरे अन्तःकरण में] लीन सी हो गई है, मानो प्रतिबिम्बित हो रही हैं; मानो मेरे चित्तरूपी भित्ति पर उसका चित्र-सा बना हुआ है, मानो वह मेरे चित्त रूपी प्रस्तर खण्ड पर खोद दी गई है, मानों मेरे चित्त में जड़ दी गई है; मानो वज्रलेप से जोड़ सी दी गई है, मानो अन्तःकरण में गाड़ दी गई है; मानो कामदेव के पाँचो बाणों से मेरे चित्त में जड़ दी गई हैं; इस प्रकार मानो चिन्ता की परम्परा रूपी तन्तुओं के जाल से वह मजबूती से सिल दी गई है ।'

[प्रस्तुत माधव की उक्ति दश. २.३४ में भी उद्धृत है]

अथ मरणम्—

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते ।

यथा—

'संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किंचिच्चिरम् ।
संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो-
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥'

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् । अन्यत्र कामचारः । यथा वीरचरिते—'पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्—

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्र
संवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्य-
दुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥' [महावीर० १.३९]

---

१६. अब **मरण** [नामक सोलहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

मरण के सुप्रसिद्ध और अनर्थकारी होने से इसका लक्षण नहीं बतलाया जा रहा है ॥

जैसे [नायक के आने पर किसी प्रोषितभर्तृका नायिका की दूती उससे कहती है]—

तुम्हारे [घर वापस आने की] अवधि का दिन आने पर जिधर से तुम्हारे आने का रास्ता था उधर ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही, निश्चल होकर, देर तक कुछ सोंचकर, फिर सद्यः ही क्रीडार्थ पाली गई कुररी [नामक पक्षी] को आँखों में आँसू भरकर सखियों को सौंपकर उस [तुम्हारी प्रियतमा] ने थोड़ी आयु वाली माधवी लता का आम्रवृक्ष [=सहकार] के साथ करुणापूर्ण पाणिग्रहण सम्पन्न कर दिया ।'

इस प्रकार से [उपरोक्त वर्णन के समान ही] शृङ्गार रस के आलम्बन के रूप में जहाँ-जहाँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ-वहाँ वास्तविक मरण न दिखलाकर मरण का केवल आभास मात्र ही अर्थात् उसकी तैयारी का ही उपनिबन्धन करना चाहिए ।

शृङ्गार रस को छोड़कर अन्य रसों में इच्छानुसार [मरण की तैयारी का अपना साक्षात् रूप से मरण का] वर्णन कवि कर सकता है । जैसे 'महावीरचरित' में [ताड़का के प्रत्यक्ष रूप से मरण का वर्णन इस प्रकार है]—

'आप लोग जरा ताड़का को तो देखें—हृदय के मर्मस्थल का भेदन करने वाले, गिरते हुए [रामचन्द्र के] भयङ्कर बाणों के वेग से तत्काल ही उसका अङ्ग भङ्ग हो गया । उसकी नासिका रूपी कुटी [=झोपड़ी] के दोनों छिद्रों से एक ही जैसा बुद्बुद् शब्द करते हुए रक्त गिर रहा है । इस तरह वह एक प्रकार से मर-सी गई है ।'

अथ मदः—

हर्षोत्कर्षो मदः पानात् स्खलदङ्गवचोगतिः ॥ २१ ॥
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

यथा माघे—

'हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृतमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥' [शिशु० १०.१३]

इत्यादि ॥

अथ सुप्तम्—

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥ २२ ॥

यथा—

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥'

---

१७. अब **मद** [नामक सत्रहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]

मदिरा [मादक द्रव्यों के] पान से उत्पन्न होने वाली अत्यन्त प्रसन्नता को 'मद' कहते हैं । इसमें मद के कारण अङ्ग, वाणी एवं गति शिथिल पड़ जाती है । इस तरह उत्तम मध्यम और अधम प्रकार के मद्यपी-जनों में क्रमशः नशा चढ़ने पर १. सो जाना; २. हँसी-मजाक करना; तथा ३. रुदन करना [आदि अनुभाव पाए जाते हैं] ॥२१-२२॥

जैसे माघ के 'शिशुपालवध' में—

'कामी तरुण के समान अत्यन्त बढ़े हुए मद ने सरल प्रकृति वाली भी रमणी की हँसी को विलास से मनोहर, वचनों को चातुर्यपूर्ण तथा आँखों में अनेक [कटाक्षादि विलास रूप] विकारों को बढ़ा दिया [तो फिर प्रौढ़ा रमणियों के विषय में कहना ही क्या ? अर्थात् प्रौढ़ा रमणियों में ये सब अधिक बढ़ गए, इसमें कौन बड़ी बात है] ।'

इसी प्रकार अन्य को भी समझ लेना चाहिये ।

१८. अब **सुप्त** [नामक अट्ठारहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

निद्रा से उत्पन्न होने वाली [स्वप्नावस्था या सुषुप्ति की] अवस्था को 'सुप्त' कहते हैं । मुख्य रूप से श्वास और उच्छ्वास ही इसके अनुभाव हैं ॥ २२ ॥

जैसे [सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० २२३ के कमलायुध नामक कवि का २८ वाँ पद्य इस प्रकार है]—'जौ के खेत के एक कोने में बनी हुई घास की छोटी कुटिया के भीतर नए धागों के पुआलों के तकिया-युक्त बिछौने पर सोए हुए कृषक-दम्पति की नींद को निकटस्थ कुच-कलश की अत्यधिक उष्णता के कारण तुषार रेखाबद्ध रूप से [सीमा सा बनाए हुए उन पर अपना असर न डालते हुए] स्थित है ।

अथ निद्रा—

मनःसंमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥ २३ ॥

यथा—

'निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥' [चौरपञ्चाशिका ३०]

यथा च माघे—

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।

---

१९. अब **निद्रा** [नामक उन्नीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

चिन्ता, आलस्य एवं थकावट आदि से मन का सम्मीलन [अर्थात् मन का अन्य इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छेद होकर मन की क्रियाओं का रुक जाना ही] निद्रा है। इसमें जँभाई का आना, अङ्गों में अँगड़ाई, आँखों का बन्द हो जाना तथा बड़बड़ाना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ २३ ॥

जैसे [बिल्हण की 'चौरपञ्चाशिका' में नायिका की निद्राजनित अवस्था का वर्णन इस प्रकार है]—

'निद्रा के वेग कारण उनींदी अधखुली आँखों वाली और मद से अलसाई हुई उस मृगनयनी के मधुर अक्षर आज भी मेरे हृदय में कुछ-कुछ गूँज से रहे हैं जो न तो निरर्थक ही थे और न सार्थक ही।'

परिष्कार—प्रस्तुत उदाहरण आलङ्कारिकों में बड़ा ही प्रसिद्ध रहा है। यह 'चौरपञ्चाशिका' [पृ० ४९] का श्लोक कुछ पाठान्तर के साथ इस प्रकार मिलता है—

अद्यापि में वरतनोर्मधुराणि तस्या यान्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थरायास्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

ध्वन्यालोक लोचन [प्रथम उद्योत के अन्त में] एक चरण उद्धृत है। निद्रा के उदाहरण के रूप में हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन पृ० १०७ में उद्धृत किया है।

साहित्यदर्पण में इसे अनुष्टुप छन्द में इस प्रकार बना दिया गया है—

सार्थकनार्थकपरं ब्रुवतो मन्थराक्षरम् ।
निद्रार्धमीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि ॥

अथवा, जैसे 'शिशुपालवध' में [एक पहरेदार दूसरे को जगा रहा है]—

'अपने प्रहर [पहरे के घण्टों] को पूरा कर सोने की इच्छा करते हुए पहरेदार ने दूसरे पहरा देने वाले साथी को 'जागो, जागो' ऐसा उच्च स्वर से बरा-बार कह कर

मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां
ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥' [शिशु० ११.४]

अथ विबोधः—

विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

यथा माघे—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥' [शिशु० ११.१३]

अथ व्रीडा—

दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्ट्यर्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥ २४ ॥

यथाऽमरुशतके—

'पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।

जगाया, किन्तु नींद के कारण अस्पष्ट अक्षरों को एवं अर्थहित वचन को कहता हुआ भी वह मनुष्य [दूसरा पहरेदार] भीतर से [अच्छी तरह से] नहीं ही जागा।'

२०. अब **विबोध** [नामक बीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

परिणाम [निद्रा दूर करने वाले कारणों] से उत्पन्न [चैतन्य लाभ] को 'विबोध' कहते हैं। इसमें जंभाई-अगड़ाई, और आँख मींचना आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥

जैसे माघ के ['शिशुपालवध' में निद्रा से जगने का उदाहरण इस प्रकार है]—

'चिरकाल तक रति करने के खेद से सुखपूर्वक सोये हुए प्रियतमों से पीछे सोने पर भी उनसे पूर्व ही जागी हुई [पतिपरायणा] तरुणियाँ उनके निद्रा-भङ्ग के भय से बाहुपाश को चुपचाप पड़ी रहकर भी शिथिल नहीं करती हैं [कि कहीं उनकी नींद न खुल जाय]।'

२१. अब **व्रीडा** [नामक इक्कीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

दुराचार आदि कारणों से उत्पन्न धृष्टता के अभाव को 'व्रीडा' कहते हैं। इसमें दृष्टि का टेढ़ा कर लेना, मुख को छिपाना, रंग फीका पड़ जाना और मुँह नीचा कर लेना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ २४ ॥

जैसे 'अमरुशतक' में [नववधू का वर्णन इस प्रकार है]—

'[प्रथम मिलन के समय] जब पति नई वधू का वस्त्र खींचता है तब वह विनय से मुख नीचा कर लेती है; जब वह हठात् आलिङ्गन को उद्यत होता है वह अपने अङ्गों को सिकोड़ लेती है। सखियों से मुस्कान के साथ देखी जाती हुई वह प्रियतम के

न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥' [अमरु० ४१]

अथापस्मारः—

आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाभिधः[1] ।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥ २५ ॥

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥' [शिशु० ३.७२]

अथ मोहः—

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥ २६ ॥

यथा कुमारसम्भवे—

अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी कुछ बोल नहीं पाती है। इस प्रकार नववधू प्रियतम के प्रथम परिहास के अवसर पर लज्जा के मारे अन्दर ही अन्दर गड़ी जा रही है।'

२२. अब **अपस्मार** [नामक बाइसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

जैसा कि अपस्मार शब्द की निरुक्ति से ही प्रकट है कि ग्रहजनित दुःख आदि के कारण से उत्पन्न आवेश [चित्तविक्षेप अथवा मिर्गी आने] को 'अपस्मार' कहते हैं। इसमें भूमिपतन, कम्पन, प्रस्वेद और मुँह से झाग एवं लार आदि का निकलना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ २५ ॥

जैसे 'माघ' में [समुद्र का वर्णन इस प्रकार है]—

'[उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने] भूमि का आलिङ्गन करते हुए, उच्च ध्वनि करते हुए, चञ्चल बाहु के समान विशाल तरङ्गों वाले, फेनयुक्त नदियों के पति [समुद्र] को मिर्गी के रोगी के समान समझा।'

२३. अब **मोह** [नामक तेइसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

भय, दुःख, घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदि के कारण उत्पन्न हुई चित्त की विकलता को 'मोह' कहते हैं। इसमें अज्ञान, भ्रम, आघात और घूर-घूर कर देखना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ २६ ॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में [कामदेव के भस्म हो जाने पर रति की मोहजनित मूर्च्छा का वर्णन इस प्रकार है]—

---

१. अपगता स्मृतिर्यत्र सोऽपस्मार इति तस्य निरुक्तिरिति ।

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥' [कुमार ३.७३]

यथा चोत्तररामचरिते—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' [उत्तर० १.३५]

अथ मतिः—

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

यथा किराते—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥' [किरात० २.३०]

[कामदेव के] तीव्र शोक से उत्पन्न चक्षुरादि इन्द्रियों के ज्ञान वृत्ति को रोक देने वाली मूर्च्छा से, क्षण-भर के लिए स्वामी [कामदेव] के मरण दुःख का अनुभव न करती हुई रति उपकृत सी हुई [मानो मूर्च्छा ने थोड़ी देर के लिए उसका दुःख बाँट लिया]।

अथवा, जैसे 'उत्तररामचरित' में [राम सीता से कह रहे हैं]—

'प्रिये! तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय समूह को मूढ़ करने वाला विकार मेरे अन्तःकरण को जड़ीकृत कर देता है तथा ताप पैदा करता है। यह [विकार] सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है, अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।'

परिष्कार—प्रस्तुत श्लोक का चतुर्थ चरण उत्तररामचरित में इस प्रकार है—'विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च।' अर्थ होगा—'स्पर्शजन्य विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है।' यह श्लोक दश० ४.७६ में भी उदाहरित है।

२४. अब **मति** [नामक चौबीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

शास्त्र आदि में भ्रान्ति के उच्छेद से तथा उपदेश से उत्पन्न होने वाले तत्त्वज्ञान को 'मति' कहते हैं ॥

जैसे 'किरातार्जुनीय' में [युधिष्ठिर इस प्रकार कहते हैं]—

'बिना 'सोंचे-समझे सहसा कोई कार्य करना ठीक नहीं हैं; अविवेकता ही अपत्तियों की जननी है; सोंच-समझकर कार्य करने वाले व्यक्ति के गुणों से आकृष्ट होकर सम्पत्ति स्वयं ही उस [विवेकी] का वरण किया करती है।'

यथा च—

'न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि ते संतुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भादिर्जैह्म्यजृम्भासितादिमत् ॥ २७ ॥

यथा ममैव—

'चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचनं कथञ्चिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः ॥' [धनिकस्य]

अथावेगः—

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो[1]
वातात् धूलूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्ग ।

अथवा, जैसे [सर्वज्ञ सोमेश्वर के इस श्लोक में]—

'पण्डित लोग झटपट कोई कार्य नहीं किया करते हैं और किसी बात को सुनकर पहले वे उसके तत्त्व की छानबीन करते हैं और फिर उस तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ-साथ दूसरे के भी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं ।'

२५. अब **आलस्य** [नामक पचीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

थकावट एवं गर्भ आदि [के भार] के कारण उत्पन्न जडता को 'आलस्य' कहते हैं । इसमें जँभाई लेना और पड़े रहने की इच्छा बनी रहना आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ २७ ॥

जैसे, मेरा [=धनिक का] ही श्लोक इस प्रकार है—

[गर्भ के भार के कारण] 'वह सुन्दरी बड़ी मुश्किल से किसी-किसी प्रकार चलती-फिरती है; और सखियों के द्वारा पूँछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ [कम शब्दों में ही] उत्तर दे देती है । इस प्रकार गर्भ के अत्यधिक भार से अलसाई हुई सुन्दरी हमेशा बैठी ही रहना चाहती है ।'

२६. अब **आवेग** [नामक छब्बीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

[मन के] संभ्रम [=घबड़ाहट अथवा हड़बड़ाहट] को 'आवेग' कहते हैं । [यह कई कारणों से होता है; जैसे] १. राज्यविप्लवजन्य-आवेग में शस्त्रसंनाह और हाथी-घोड़ों आदि की तैयारी होती है; २. वायुजन्य आवेग में [आँधी या झंझावात से] धूल-धूसरित हो जाना तथा जल्दी-जल्दी चलना आदि बातें होती हैं; ३. वर्षा से होने वाले आवेग में शरीर संकुचित हो जाता है; और ४. उत्पातजन्य आवेग में [विद्युत् की तड़क आदि से] अङ्गों में शिथिलता आ जाती है; ५. अनिष्ट [=शत्रु] से होने वाले आवेग में शोक रूप

१. 'अभिमरजनिते शस्त्रभायाभियोगौ' इति वा पाठः ।

उत्पातात् स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः[1] करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥ २८ ॥

अभिसरः=राजविद्रवादिः, तद्धेतुरावेगः । यथा ममैव [=धनिकस्य]—

आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे
खड्गः क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्ग प्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीत्थं
नाथ स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ॥'

इत्यादि ॥

'तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तयः ॥'

यथा वा—

'प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया-
मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।

अनुभाव और ६. इष्ट [=मित्र] से होने वाले आवेग में हर्ष रूप अनुभाव परिलक्षित होते हैं । ७. वह्निजन्य आवेग में धूएँ के कारण मुँह की व्याकुलता दिखाई पड़ती है, और, ८. हाथी के द्वारा होने वाले आवेग में भय, स्तम्भ, कम्प और भागने का प्रयत्न देखा जाता है ॥ २८ ॥

(i) अभिसर का अर्थ है राजकलह [=राज्यविप्लव] आदि । उसके कारण होने वाले आवेग का उदाहरण मेरा [=धनिक का] ही श्लोक इस प्रकार है—

'हे राजन् ! गहन पर्वत में तुम्हारे डर से सोए हुए तुम्हारे शत्रु जब तुम्हें कभी स्वप्न में देख लेते हैं तो एकदम हड़बड़ा कर जग जाते हैं, आँखें चकित सी दीख पड़ती है, और एक दूसरे को लक्ष्य करके उनकी बक-झक इस प्रकार होती है कि—आओ, आओ, श्रेष्ठ घोड़ों को तैयार कर लो, जल्दी करो, मेरे पास आओ । मेरा खड्ग कहाँ है ? कटार ले आओ, ओह ! धनुष से क्या होगा ? अरे ! क्या शत्रु घुस ही आए ?' इत्यादि ॥

इसी प्रकार 'कवच-कवच, शस्त्र-शस्त्र, रथ-रथ इत्यादि [शत्रु] योद्धाओं की [युद्धस्थल में] चारों ओर उत्कट उक्तियाँ सुनाई पड़ती थी ।'

[इस प्रकार यहाँ युद्ध-भूमि में योद्धाओं की आवेगावस्था का वर्णन है] ।

अथवा, जैसे [किसी राजा की सेना के आश्रम में प्रवेश से उत्पन्न हुआ आवेग इस प्रकार है]—

'ये तपस्वियों की कन्यायें पुत्र के समान स्नेह से पाले गए छोटे-छोटे वृक्षों में प्रारम्भ की हुई सिञ्चन-क्रिया को सहसा छोड़कर 'यह क्या है'—ऐसा कहकर व्याकुल

१. 'कुलाक्षः' इति वा पाठः ।

आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च बटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजबृसीष्वेवोच्चपादं स्थिताः ॥
वातावेगो यथा—'वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि ।
वर्षजो यथा—

'देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो-
गेंहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥'

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान-
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न-
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः ॥'

होकर देख रहीं हैं । ब्रह्मचारी-शिष्य भी आश्रम के वृक्षों पर चढ़ रहे हैं । इसके अलावा ये मौनी तपस्वी भी शीघ्र ही अपनी समाधि को छोड़कर अपने आसनों पर ही ऊँचे पैर करके खड़े हो गए हैं ।'

(ii) **वातजन्य-आवेग** का उदाहरण इस प्रकार है—

हवा के झोकों से वस्त्र तथा उत्तरीय [चञ्चल होकर] इधर-उधर बिखर रहा है ।' इत्यादि ।।

(iii) **वृष्टिजन्य-आवेग** का उदाहरण इस प्रकार है—

'मेघ बरसने पर भोजन पकाने [के कार्य] में व्यस्त स्त्रियाँ जल से भरे हुए ओरियों [=छप्पर के छौरों] के पानी को हाथों से ठोंककर, कीचड़ के डर से तख्तों के बने पुलों से, [पानी से बचने के लिए] सूप की छतरी से सिर ढँके हुए, आग लाने के लिए एक घर से दूसरे घर में जा रही हैं ।'

(iv) **उत्पातजन्य-आवेग** का उदाहरण इस प्रकार है—

'पुलस्त्य के पौत्र रावण की मोटी-मोटी [=पुष्ट] भुजाओं के द्वारा उठाए गए कैलास पर्वत के हिलने से घबड़ाहट से चञ्चल नेत्र वाली [मानिनी] प्रिया पार्वती को विनष्ट कोप-चिह्न वाले आलिङ्गन से पुलकित भगवान् चन्द्रमौलि [=शङ्कर] की यह अवस्था आप लोगों का कल्याण करे ।'

परिष्कार—प्रस्तुत मङ्गल श्लोक में प्रणय-कोप की हुई अवस्था वाली मानिनी पार्वती को चित्रित किया गया है । कैलास के उठने के कारण वह घबड़ा उठती हैं, और अपने आप ही भगवान् चन्द्रशेखर का आलिंगन डर के मारे कर लेती हैं । मान समाप्त हो जाता है; प्रणय-कोप छिप जाता है; और आलिङ्गन-जन्य रोमाञ्च हो

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्यां तद्यथोदात्तराघवे—'चित्रमायः—(ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र, परित्रायतां परित्रायताम् । (इत्याकुलतां नाटयति)' इत्यादि । पुनः—'चित्रमायः—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

रामः—

वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ॥'

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रमः ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—'(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) वानरः—महाराअ एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस—' (महाराज एतत्खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्ष-' ।)

उठता है । इस प्रकार की चन्द्रमौलि की अवस्था-विशेष आप लोगों का कल्याण करे ।

(v) **अहितकृत-आवेग**—[=अनिष्ट के द्वारा होने वाला आवेग] तो अनिष्ट वस्तु के दर्शन या श्रवण से होता है । जैसे 'उदात्तराघव' नाटक में—'**चित्रमाय**—(सम्भ्रम के साथ) कुलरक्षक भगवान् रामचन्द्र रक्षा करो । (ऐसा कहकर आकुलता का अभिनय करता है)' इत्यादि । आगे पुनः '**चित्रमाय**' [कहता है]—

'यह राक्षस मृगरूप को छोड़कर भयानक रूप धारण कर लक्ष्मण को लिए जा रहा है—युद्ध में यह बड़ी शङ्का की बात है ।'

राम—

अभय के समुद्र अर्थात् अत्यन्त निडर वत्स [लक्ष्मण] को राक्षस से प्रतिभय हो—यह मैं कैसे मान लूँ ? और इधर यह मुनि [=चित्रमाय] भी डरे हुए-से चिल्ला रहे हैं; अतः मेरे मन में सम्भ्रम [=घबड़ाहट] भी है । दूसरी ओर [वन गमन के अवसर पर] गुरु [वसिष्ठ] ने स्नेहपूर्वक बार-बार यही कहा था कि जानकी को [अकेले] मत छोड़ना । इस प्रकार आकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ मेरी बुद्धि न तो जाने ही के लिए निश्चय कर पा रही है, और न तो रुकने ही के लिए ।'

यहाँ तक अनिष्ट प्राप्ति से उत्पन्न सम्भ्रम का वर्णन किया गया है ।

(vi) **इष्ट-प्राप्ति** से होने वाले सम्भ्रम का उदाहरण वहीं [उदात्तराघव में ही] [पर्दा हटाकर सम्भ्रान्त वानर का प्रवेश] **वानर** [सुग्रीव को सूचना देता है]—महाराज ! पवनपुत्र हनुमान के आगमन से हर्षित····' इत्यादि से लेकर 'महाराज के हृदय को

इत्यादि 'देवस्य हिअआणन्दजणणं विअलिदं महुवणम् ।' (देवस्य हृदयानन्दजननं विदलितं मधुवनम् ।) इत्यन्तम् ।

यथा वा वीरचरिते—

'एह्योहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥' [उत्तर० १.५५]

वह्निजो यथाऽमरुशतके—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥' [अमरु० २]

प्रसन्न करने वाला मधुवन [मारुति द्वारा] विदलित कर दिया गया है ।' यहाँ तक [इष्ट-प्राप्ति से होने वाले सम्भ्रम का वर्णन किया गया है] ।

अथवा, जैसे 'महावीरचरित' में [राम के प्रति हर्षोन्माद के साथ राजा की उक्ति इस प्रकार है]—

'आओ, वत्स राम ! आओ, हे रघुनन्दन ! रामभद्र ! तुम्हारे मस्तक को चूँम लूँ और चिरकाल तक गले लगाऊँ । अथवा अपने हृदय में तुम्हें धारण करके दिन रात ढोया करूँ; अथवा तुम्हारे चरण कमलों की वन्दना करूँ ।'

(vii) **अग्नि से होने वाले आवेग** का उदाहरण 'अमरुशतक' [के मंगलश्लोक में इस प्रकार है—जहाँ कवि ने त्रिपुरदहन के समय भगवान् शंकर के शर से निकली हुई अग्नि की तुलना प्रणयापराधी कामी से की है]—

[परकीया-गमन को भाँप जाने वाली नायिका जिस प्रकार शठ नायक के हाथ पकड़ने पर उसे झटक देती है, आँचल पकड़ने पर उसे बलपूर्वक लीलाकमल से पीटने लगती है, केश पकड़ने पर उसे ढकेल देती है, पैरों पड़ने पर उसे देखती भी नहीं और आलिङ्गन करने पर उसे दूर ठेल देती है उसी प्रकार त्रिपुरदाह के समय] 'अश्रुपूर्ण नेत्र-कमलों वाली त्रिपुर सुन्दरियों ने शम्भु के बाणों से उत्पन्न अग्नि को हाथ से लगने पर सद्यः अपराध करके आए हुए कामी के समान झटक दिया, आँचल पर लगने से उसे कर-कमलों से थपथपा दिया, केशों में लगने से उसे मसल दिया, पैरों पर लगने से उसे देखा भी नहीं और शरीर पर लगने से उसे झाड़ दिया । इस प्रकार लीला करने वाला शम्भु के बाणों से उत्पन्न अग्नि आप लोगों के पापों को भस्म कर दे ।'

यथा वा रत्नावल्याम्—

'विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥ [रत्ना० ४.१६]

करिजो यथा रघुवंशे—

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥' [रघु० ५.४९]

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः—

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ।

यथा—

अथवा, जैसे 'रत्नावली' में [वत्सराज सागरिका को बचाने के लिए ऐन्द्रजालिक द्वारा उत्पन्न अग्नि में प्रवेश का और धुएँ से कष्ट का अभिनय करते हुए इस प्रकार कहते हैं]—

'हे अग्नि ! तुम ठहरो, ठहरो, अपनी धूम राशि को समेटो । [मैं डरने वाला नहीं हूँ] ये ऊँची-ऊँची अग्नि की लपटों को क्यों प्रगट कर रहे हो ? प्रलयाग्नि के सदृश प्रिया की विरहाग्नि में जो मैं न जल सका उसका तू [एक साधारण अग्नि] क्या कर सकता है ?

(viii) **हाथी के द्वारा होने वाले आवेग** का उदाहरण 'रघुवंश' में इस प्रकार है—

[अज की सेना का वह समस्त शिविर] 'उस हाथी के आते ही क्षणमात्र में ही व्याकुल हो गया, क्योंकि हाथी-घोड़े आदि बन्धन तोड़कर भागने लगे, धुरा टूटने से रथ गिरने लगे तथा योधा लोग स्त्रियों की रक्षा में तत्पर हो गए ।'

परिष्कार—प्रस्तुत श्लोक में युग्य का अर्थ है 'युगं वहन्तीति युग्या वाहाः ।' 'युगं' अर्थात् धुरी को जो वहन करते हैं वे हाथी घोड़े आदि ।

कारिका में 'करि' शब्द [पशुमात्र से होने वाले] विनाश [=व्यालोप] के लिए उपलक्षण रूप में प्रयुक्त है । इससे व्याघ्र, शूकर तथा वानर आदि से होने वाले आवेगों की व्याख्या हो जाती है ।

२७. अब **वितर्क** [नामक सत्ताइसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं] ।

संदेह से उत्पन्न होने वाले विचार को ही 'तर्क' कहते हैं । इसमें व्यक्ति अपनी भौंहों, अंगों, सिर और अँगुलियों को नचाता है ।।

जैसे ['उदात्तराघव' में लक्ष्मण इस प्रकार मन में तर्क करते हैं]—

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥' [उदात्तराघवस्य]

अथवा—

'कः समुचिताभिषेकाद्रामं प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम्।
मन्ये ममैव पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना ॥'

अथावहित्थम्—

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया।

यथा कुमारसम्भवे—

'क्या वह भरत ही [राज्य के] लोभ से पराभूत हो गए जिन्होंने [राम को वनवास दिलाने का] यह कार्य किया है; अथवा क्या मेरी मझली माता [कैकेयी] ही मान में एकाएक स्त्री के समान लघुता को प्राप्त हो गयी थीं, जिसके कारण उन्होंने यह नीच कार्य करवाया]; अथवा मेरी सोची हुई ये दोनों ही बातें मिथ्या हैं; क्योंकि ये मेरे बड़े भाई [गुरु अर्थात् भरत] आर्य के [अर्थात् रामचन्द्र के] अनुज हैं। [अर्थात् रामचन्द्रजी के अनुज और मेरे गुरु भरत कभी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकते हैं] और माता [कैकेयी] पिताजी की पत्नी हैं [इसलिए वे कभी इस गर्हित पाप को नहीं कर सकती हैं। इसलिए इन दोनों के विषय में सोचना अनुचित है। तब फिर यह कार्य हुआ कैसे, इसका समाधान करते हैं कि] मालुम होता है कि यह अनुचित कार्य दैव ने ही किया है।'

परिष्कार—प्रस्तुत श्लोक नाट्यदर्पण के अनुसार उदात्तराघव का है।

अथवा,

[यदि ऐसी बात नहीं है तो] 'गुणों में श्रेष्ठ तथा अभिषेक के यथार्थ अधिकारी बड़े भाई राम को सिंहासनाच्युत करने में किसकी कारणता स्वीकार करूँ? मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरे पुण्यों का ही यह फल है जिसके वश होकर ब्रह्मा ने इसी बहाने मुझे सेवा करने का अवसर प्रदान किया है।'

२८. अब **अवहित्था** [नामक अट्ठाइसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

लज्जा आदि [भावों] के कारण [उत्पन्न हर्षादि] अङ्ग के विकारों को छिपाना ही 'अवहित्था' है। इसमें [किसी दूसरे अनपेक्षित काम की ओर प्रवृत्ति, दूसरी ओर देखना आदि] अङ्गों में उत्पन्न होने वाले विकार ही अनुभाव होते हैं॥

जैसे, 'कुमारसंभव' में [पार्वती की अवहित्था का वर्णन इस प्रकार है]—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥' [कुमार० ६.८४]

अथ व्याधि—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥ २९ ॥

दिङ्मात्रं तु यथा—

'अच्छिन्नं नयनास्तु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।
अद्य श्वः परिनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥'

अथोन्मादः—

अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः।
अस्मिन्नवस्था[1] रुदितगीतहासासितादयः ॥ ३० ॥

देवर्षि [=सप्तर्षि मण्डल] के ऐसा कहने पर [अर्थात् सप्तर्षियों ने जब विवाह की बात चलाई और उनके द्वारा शिवजी के विवाहार्थ प्रस्तुत होने की चर्चा प्रगट करने पर] पिता [हिमालय] के पास बैठी हुई पार्वती मुँह नोचा करके लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगीं।'

२९. अब **व्याधि** [नामक उन्नीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

सन्निपात आदि रोगों को 'व्याधि' कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र [आयुर्वेद के ग्रन्थों में किया गया] है ॥ २९ ॥

यहाँ उसका संकेतमात्र तो इस प्रकार है जैसे ['अमरुशतक' में कोई दूती किसी नायक से उसकी नायिका की विरहजन्य पीड़ा का वर्णन करती हुई कहती है]—

'अनवरत प्रवहमान आँसुओं को उसने अपने सम्बन्धियों को दे दिया और चिन्ता गुरुजनों के लिए अर्पित कर दी है; अपनी सारी दीनता कुटुम्बियों को दे दी और संताप सखियों के हवाले कर दिया है। अतः अब तुम निश्चिन्त हो जाओ; उसने वियोगजन्य सारा दुःख दूसरों को यथोचित बाँट दिया है। वह आज या कल में ही परिनिर्वृत्ति [=मरण] को ही प्राप्त हो जाने वाली है; बस उसे खेद मात्र श्वासों का ही रह गया है।'

[इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में विरहजन्य 'मूर्च्छा' नामक व्याधि का वर्णन होने से व्याधि का उदाहरण है]।

३०. अब 'उन्माद' [नामक तीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

बिना सोचे-समझे कार्य करने को 'उन्माद' कहते हैं। यह सन्निपात आदि शारीरिक रोगों में तथा ग्रह आदि कारणों से होता है। इसमें रोना, गाना, हँसना, एवं बैठे ही रहना आदि [अनुभाव वाली] अवस्थाएँ होती हैं ॥ ३० ॥

---

१. 'स्थान' इति वा पाठः।

यथा—

आः ! क्षुद्रराक्षस ! तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे 'कथम्—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥' [विक्रमो० ४.७]

इत्यादि ॥

अथ विषादः—

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ ३१ ॥

यथा वीरचरिते—'हा आर्ये ताडके ! किं हि नामैतत् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।

जैसे ['विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी के वियोग से विह्वल पुरुरवा का उन्माद-कथन इस प्रकार है]—

'**राजा**—अरे दुष्ट राक्षस ! ठहर, ठहर, मेरी प्रिया को लेकर कहाँ जा रहा है ?'....इत्यादि उपक्रम के बाद 'अरे,—

'यह तो उमड़ा हुआ नवीन बादल खड़ा है, गर्वान्वित निशाचर तो है नहीं । दूर तक फैला हुआ यह इन्द्रधनुष है, तना हुआ उस राक्षस का शरासन तो है नहीं । यह भी तेज धार वाली वृष्टि है, बाण-परम्परा नहीं है; तथा यह कसौटी पर कसे गए सोने की रेखा के समान चमकने वाली बिजली है, मेरी प्यारी उर्वशी नहीं है ।'

इत्यादि [में उन्माद का ही वर्णन है] ॥

३१. अब **विषाद** [नामक इकतीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

किसी आरम्भ किए हुए कार्य में सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य खो जाने को 'विषाद' कहते हैं । इसमें निःश्वास और उच्छ्वास का निकलना, हृदय में दुःख का अनुभव करना और सहायकों को ढूँढ़ना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ ३१ ॥

जैसे, 'महावीरचरित' में राक्षस की उक्ति इस प्रकार है—'हा आर्ये ! ताडके ! यह क्या है ? जल में तुम्बियाँ डूब रही हैं और पत्थर तैर रहे हैं ।

सत्य ही, राक्षसपति [=रावण] का प्रताप आज स्खलित हो गया है क्योंकि मनुष्य के बच्चे के द्वारा इस प्रकार की अद्भुत पराजय उसको प्राप्त हुई है; और यहाँ रहते

दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथी
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥' [महावीर० १.४०]

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः ।
तत्रोच्छ्वासत्व[1]निःश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥ ३२ ॥

यथा कुमारसम्भवे—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥[कुमार० ७.२२]

यथा वा तत्रैव—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादनिनयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥'[कुमार ६.९५]

अथ चापलम्—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ ३३ ॥

हुए ही स्वयं स्वजनों का नाश देखकर भी जीवित मैं दीनता एवं वार्धक्य से जकड़ गया हूँ; क्या करूँ ?'

३२. अब **औत्सुक्य** [नामक बत्तीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से, प्रगाढ़ अनुराग से अथवा [रतिज] घबराहट के कारण [अभीष्ट की प्राप्ति में] विलम्ब का सहन न कर सकना 'औत्सुक्य' [=उत्सुकता] कहलाता है । इसमें श्वास प्रश्वास का आना, हड़बड़ी, हृदय का सन्ताप, पसीना और विभ्रम आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ ३२ ॥

जैसे 'कुमारसंभव' में—

'अपने रूप की शोभा को दर्पण में देखकर लम्बे नेत्रों वाली पार्वती ठक [=स्तिमित] सी रह गईं और भगवान् शंकर के पास जाने के लिए व्यग्र हो उठीं; क्योंकि स्त्रियों का शृङ्गार पति के देखने से ही सफल होता है ।'

अथवा, जैसे वहीं ['कुमारसंभव' में ही]—

'पार्वती से मिलने के लिए उत्सुक भगवान् शंकर के वे [तीन] दिन बड़े कष्ट से बीते । जब ये [काम सम्बन्धी] भाव धीर एवं जितेन्द्रिय [शम्भु] को भी प्रभावित करते हैं तब दूसरे असंयमी व्यक्तियों को क्या विकल न कर देंगे ?'

३३. अब **चपलता** [नामक तैंतीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं]—

मात्सर्य [=ईर्ष्या], द्वेष तथा राग आदि के कारण मन का स्थिर न रहना 'चपलता' है । उसमें भर्त्सना [=डांटना, फटकारना], कठोर-वचन, स्वच्छन्द-आचरण आदि अनुभाव होते हैं ॥ ३३ ॥

---

१. 'त्वरा' इति वा पाठः ।

यथा विकटनितम्बायाः—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥'

यथा वा—

'विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥
अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये ।' इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

जैसे, 'विकटनितम्बा' के प्रस्तुत श्लोक में [अल्पवयस्क कुमारी पर आसक्त एवं अनुराग चेष्टाएँ दिखाने वाले कामुक के प्रति किसी की उक्ति इस प्रकार है]—

'हे भ्रमर ! उपमर्द सहन करने योग्य अन्य पुष्प लताओं में अपने मन को बहलाओ । भोलीभाली, थोड़ी उम्र वाली, परागरहित नवमालिका [=चमेली] की कोमल कली को असमय में क्यों मसलते हो ?'

परिष्कार—प्रस्तुत पद्य में 'मुग्धा' और 'रजस्' पद श्लिष्ट हैं । कली के पक्ष में 'मुग्धा' का अर्थ है बिना खिली हुई और नायिका के पक्ष में अप्राप्त यौवन वाली एवं काम कलाओं से अनभिज्ञ अर्थ है; एवं 'रजस्' का एक पक्ष में 'पराग' अर्थ है और दूसरे में 'रजोधर्म'। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत के द्वारा किसी कामुक को सचेत किया जा रहा है जो अल्पवयस्का मुग्धा किशोरी के प्रति लोलुप है ।

अथवा, जैसे [रावण की इस उक्ति में चपलता अर्थात् चित्त की अनवस्था इस प्रकार प्रदर्शित की गई है]—

'बार-बार दांत पीसने के कारण शब्द करती हुई कठोर दाढ़ रूपी आरों से भयंकर कन्दरा के समान मध्यभाग [उदर] वाले मेरे ये मुख 'पहले मैं खाऊँ' 'पहले मैं खाऊँ' [=अहमहमिकया] इस प्रकार कहते हुए क्या एक साथ ही क्रोधपूर्वक अभी ही इन [बानरों] पर न गिर जाएं ? [अथवा अनुकूल अवसर देख बाद में कार्य को ठीक तरह से करूँ] ।'

'अथवा प्रस्तुत कार्य को ही भलीभाँति करूँगा ।' इत्यादि ॥

उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियों का इन्हीं विभाव एवं अनुभाव के स्वरूपों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण उनका पृथक् कथन [धनञ्जय द्वारा] नहीं किया गया है ।'

अथ स्थायी—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ३४ ॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुरागः । तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी । यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के [५, ९-१०, पृ० २११-२१२] बीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कारः—'मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः' प्रियतमास्मृति-

---

परिष्कार—रत्यादि स्थायी भावों में उत्पन्न और विलीन होने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहे गये हैं । इस प्रकार व्यभिचारीभाव चित्तवृत्तियों की अवस्था विशेष हैं । ये अवस्थाएँ मात्र तैंतिस ही हों ऐसी तो कोई गणना नहीं की जा सकती । तैंतिस के अतिरिक्त भी ये अवस्थाएँ हो सकती हैं, यही वृत्तिकार का कथन है । किन्तु वृत्तिकार के अनुसार इन तैंतिस से अतिरिक्त चित्तवृत्तियों की विशेष अवस्था 'छल' आदि का अन्तर्भाव इन्ही विभाव एवं अनुभाव के स्वरूपों में ही हो जायगा । इसीलिए दशरूपककार ने कारिका में उनका पृथक्-कथन नहीं किया है ।

स्थायीभाव

विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जो [रति आदि भावों का प्रवाह] विच्छिन्न न हो और दूसरे भावों को अपने रूप में उसी प्रकार आत्मसात् कर ले जैसे समुद्र [सभी प्रकार के जल को खारा ही बना देता है] उसे 'स्थायीभाव' कहते हैं ॥ ३४ ॥

सजातीय एवं विजातीय भावान्तरों से जो तिरस्कृत न होकर [काव्य में] उपनिबद्ध होते हैं उन रति आदि भावों को 'स्थायीभाव' कहते हैं । [सजातीय भावों से न तिरस्कृत होने का उदाहरण] जैसे बृहत्कथा में नरवाहनदत्त का मदनमञ्जूषा के प्रति जो अनुराग है उसका अन्य [नायकों की] अनेक नायिकाओं के प्रति वर्णित अवान्तर अनुरागों से तिरस्कार नहीं होता । अतः [नरवाहनदत्त-निष्ठ रति ही वहाँ] स्थायीभाव है । [विजातीय भावों से न तिरस्कृत होने का उदाहरण] जैसे 'मालतीमाधव' नाटक में श्मशान के वर्णन से युक्त पञ्चम अङ्क में बीभत्स के वर्णन से मालती के [प्रति माधव के] अनुराग का तिरस्कार नहीं हुआ है । 'माधव—प्राक्तन ज्ञान से पैदा होने वाले [अर्थात् पहले के ज्ञान से उत्पद्यमान] संस्कार के अनवरत प्रबुद्ध होने के कारण प्रतीत होने वाली, दूसरे प्रकार के प्रत्ययों [=ज्ञानों] से अतिरस्कृत [=अबाधित] प्रवाह वाली प्रियतमा [मालती] की स्मृति-रूपी-ज्ञान [=प्रत्यय] की उत्पत्ति की धारा [भावना] वृत्ति-सारूप्य से मेरे चैतन्य को तन्मय सा [अर्थात् मालतीमय सा] बना रही है'—

प्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति । वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्धः । तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी ।

तथा हि--विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा । उभयरूपेणापि न तावत्, तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाविर्भावात् ।

स्थायिनां च विभावादीनां यदि विरोधः, तत्रापि न तावत् सहानवस्थानम् । रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावक-

---

इत्यादि कथन के द्वारा [मालती के प्रति माधव के अनुराग का तिरस्कृत न होना ही] उपनिबद्ध है । अतः इस प्रकार से विरोधी अथवा अविरोधी [भावों] का समावेश [काव्य में स्थायीभाव का] बाधक नहीं होता ।

[उपरोक्त मालतीमाधव का उदाहरण दश० ४.२० में भी उद्धृत है] ।

परिष्कार—मालतीमाधव के इस उदाहरण में यद्यपि माधव की चित्तवृत्ति बीभत्स रस से आप्लावित है, जो एक विजातीय भाव है, फिर भी इससे मालती के प्रति जो रति की भावना है वह टूटती नहीं है । वहाँ उसके हृदय में मालती का करुण-क्रन्दन कुछ क्षण के लिए दबे हुए रति भाव को जगा देता है । इसमें माधव का यह सोचना प्रमाण है—मेरे उस संस्कार के जागृत रहने से प्रियतमा की स्मृति धारा इतनी प्रबल हो गई कि न तो उसका प्रवाह दूसरी बातों द्वारा रोके रुकता है और न उसके मार्ग में कोई विषयान्तर का विचार बाधा पहुँचा सकता है । बात तो यह है कि उसके अविराम स्मरण होने से मेरे अन्तःकरण की वृत्ति तदाकार [=प्रियतमाकार] हो गई है । भीतर, बाहर सर्वत्र उस प्राणप्यारी का रूप दृष्टिगोचर हो रहा है । बस इसी ज्ञान-ध्यान ने मुझे तत् [प्रियतम] मय बना दिया है । अतः सिद्धान्त यह हुआ कि विरोधी और अविरोधी का समावेश काव्य में स्थायी का बाधक नहीं होता; क्योंकि विरोध दो प्रकार का होता है—

क्योंकि भावों में दो ही प्रकार से परस्पर विरोध संभावित हैं, या तो १. वे भाव एक स्थल पर साथ न रह पाते हों [सह+अनवस्थान] अथवा २. उन भावों में परस्पर बाध्यबाधक-भाव [संबन्ध को लेकर विरोध] हो [अर्थात् एक भाव का दूसरे भाव की प्रतीति में बाधा उपस्थित करना बाध्यबाधक भाव है] । इन दोनों ही रूपों में इस [स्थायीभाव] का [अन्य स्थायीभावों से] विरोध इसलिए नहीं होता क्योंकि तादात्म्य रूप से [एकाकार होकर] वे एक [रस के] रूप में आविर्भूत होते हैं [अर्थात् संघात रूप से उनकी प्रतीति होने के कारण विरोध नहीं है] ।

और स्थायीभावों का सञ्चारीभावों के साथ परस्पर विरोध यदि हम मानें तो वहाँ भी **सहानवस्थान** रूप विरोध नही हो सकता क्योंकि स्रक्सूत्रन्याय के अनुसार [जिस प्रकार एक ही सूत में माला बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के फूल गूँथे जाते हैं उसी प्रकार] रति इत्यादि से उपरक्त चित्त में अविरोधी व्यभिचारी भावों के उपनिबन्धन में किसी प्रकार का विरोध न होना समस्त रसिकजनों का **अनुभवसिद्ध**

स्वसंवेदनसिद्धः । यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येऽप्यावेश्यमानः स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः संपद्यते । तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम् ।

बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः । स च व्यभिचारिणां स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धास्तेषामङ्गत्वात् प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात् ।

आनन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्तं भवति । तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यं तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकावलम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः । स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी ।

यथा—

[सत्य] है; और जिसप्रकार स्थायी एवं व्यभिचारीभावों की एक साथ स्थिति रसिकजनों का स्वानुभवसिद्ध व्यापार है उसीप्रकार काव्य व्यापार के आरम्भ [उपाय] से अनुकार्य [राम, दुष्यन्त, माधव या चारुदत्त आदि] में भी [स्थायीभावों एवं सञ्चारी भावों का] जैसा उपनिबन्धन किया जाता है वैसा ही आनन्दमयी चेतना के उन्मीलन रूपी रस को उद्बुद्ध करने में वह इसलिए समर्थ हो जाता है कि रामादि के चित्त के साथ सहृदयों के चित्त का तादात्म्य [= एकीकरण] हो जाता है [अर्थात् रामादि में स्थायी एवं सञ्चारीभावों का सहावस्थान रूप से एक साथ निबन्धन रसिकों के चित्त में रस का अविर्भाव करता है] । अतः [स्थायी एवं सञ्चारी] भावों का सहानवस्थान [एक साथ रहने की अयोग्यता] सम्भव नहीं है ।

[दूसरे प्रकार के विरोध] **बाध्यबाधकभाव** का तात्पर्य है—'एक भाव का दूसरे भाव से तिरस्कृत हो जाना'; सो वह [तिरस्कार] तो स्थायीभावों का अपने अविरोधी व्यभिचारीभावों के साथ हो ही नहीं सकता; क्योंकि वे [अविरोधी व्यभिचारीभाव] स्थायीभाव के] अङ्ग होते हैं; और प्रधानभाव का जो विरोधी होता है, वह उसका अङ्ग नहीं हो सकता [इसलिए वे स्थायीभाव के विरोधी नहीं कहे जा सकते] ।

आनन्तर्य-विरोध [अर्थात् एक स्थायीभाव के तुरत बाद किसी विरोधी भाव के उपनिबन्धन] का परिहार भी इसी प्रकार से हो जाता है । जैसाकि मालतीमाधव में शृङ्गार के अनन्तर ही बीभत्स का उपनिबन्धन होने पर भी किसी प्रकार की विरसता नहीं आने पाई है । अतः ['सहानवस्थान आदि विरोध नहीं हो सकता'] ऐसा सिद्धान्त स्थिर हो जाने पर, दो विरोधी रसों का एक ही आलम्बन को लेकर किया गया निबन्धन ही विरोध में कारण बन सकता है । किन्तु वहाँ भी यदि किसी अविरोधी रस को [उन दोनों विरुद्ध के] बीच में रखकर विरुद्ध रसों का उपनिबंधन हो तो कोई विरोध नहीं होता ।

जैसा कि [निम्न प्राकृत पद्य में किसी सखी से पति के पराक्रम से गर्वीली नायिका व्याज निन्दा के रूप मे अपने पति के बारे में अपना सौभाग्य प्रकट करती हुई इस प्रकार कहती है]—

'अण्णाउ ताउ महिला जह परिमलसुअंधु ।
मह कंतह अल्लीणउ वणवीस अगंधु ॥'
(अन्यास्ता महिला यत्र परिमलसुगन्धः ।
मम कान्तस्य आश्रितो व्रणविस्रगन्धः ॥)

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्धः । प्रकारान्तरेण वैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः ।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोधः । यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ?

यथा—

'एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्य डोलाइअं हिअअं ॥ (गाथा०९६०)
(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥)

इत्यादौ रत्युत्साहयोः ।

यथा वा—

'अन्य स्त्रियों के पतियों [के शरीर के अङ्गराग आदि] परिमल सुगन्ध [चिरस्थायी] हैं । किन्तु मुझ दुर्भाग्यवान् के लिए तो [सदैव संग्राम में आगे रहने वाले] पति के घावों की दुर्गन्ध ही [अङ्गराग] है ।'

यहाँ पर 'बीभत्स-रस के अङ्गभूत अन्य [वीर] रस को बीच में रखकर वर्णन [=व्यवधान] करते हुए शृङ्गार रस का समावेश किया जाना' किसी प्रकार का विरोध नहीं द्योतित करता है; अथवा आश्रैक्यविरोध [एक आश्रय में विरोधी रसों की स्थिति] का परिहार किसी अन्य उपाय [=प्रकारान्तर] से करना चाहिए ।

यह बात तो ठीक है कि जहाँ एक अभिप्राय से दूसरे विरुद्ध और अविरुद्ध भावों को अङ्ग रूप से रखा जाता है, वहाँ विरोध नहीं होता; क्योंकि प्रधान रस के प्रति दूसरा [विरुद्ध और अविरुद्ध] उसका अङ्ग रहेगा अतः अङ्गाङ्गिभाव मानकर विरोध नहीं होता किन्तु **प्रश्न** यह है कि जहाँ दो रसों की समान प्रधानता हो वहाँ पर अनेक भावों का उपनिबन्धन कैसे [विरोध नहीं प्रस्तुत करेगा] ?

१. जैसे [समान प्रधानता के साथ दो रसों का उपनिबन्धन 'गाथासप्तशती' में इस प्रकार किया गया है]—

'एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर समरदुन्दुभि का निर्घोष हो रहा है । अतः प्रेम एवं युद्ध के आवेग से योद्धा का मन दोलायमान [=झूलना] हो रहा है ।'

इत्यादि में रति और उत्साह का [समान रूप से प्राधान्य] है ।

२. अथवा, जैसे 'शृङ्गारशतक' में—

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलसिनीनाम् ॥, (शृङ्गार श० ३६)

इत्यादौ रतिशमयोः, यथा च—

'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।
इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ॥'

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः,

'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः संभूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुरां कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥'

[मालती० ५.१८]

'पक्षपात छोड़कर एवं विचार करके आर्यजन मर्यादापूर्वक यह बतलावें कि पर्वतों के नितम्ब [कटिप्रदेश] का सेवन करना उचित है अथवा संभोग के लिए उत्सुक मन्द स्मित युक्त सुन्दर मुखों वाली विलासिनियों के नितम्बों का सेवन करना उचित है ।'

इत्यादि में रति और शम [का समान रूप से प्राधान्य] है ।

३. अथवा, जैसे [सीता के अपहरण के लिए आए हुए रावण की उक्ति इस प्रकार है]—

'एक ओर तो त्रिभुवन की सुन्दरियों में श्रेष्ठ एवं चञ्चल नेत्रों वाली यह सीता और दूसरी ओर यह वही दुष्टात्मा [लक्ष्मण] है जिसने [नाक-कान काटकर] मेरी बहन का अपकार किया है । इधर [लोलाक्षी सीता के प्रति] काम की बलवती लालसा है; और उधर [उसे देखकर] क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है; और मैंने भी तो अपना वेष [सन्यासी का] बना रखा है; फिर 'यह मनोरथ कैसे पूर्ण होगा' यह सोचकर मन बड़ा ही भ्रमित-सा हो रहा है ।'

इत्यादि में रति और क्रोध [का समान रूप से प्राधान्य] है ।

४. अथवा, जैसे ['मालतीमाधव' में श्मशान का वर्णन इस प्रकार है]—

'अतड़ियों से मङ्गलसूत्रों की रचना करने वाली, मृत स्त्रियों के हस्तरूपी-रक्तकमलों को स्पष्टतः कर्णाभूषण के तौर पर धारणा करने वाली, हृदयरूपी-कमलों की माला को सिर पर बाँधे हुए, रुधिरपङ्कों का कुंकुम लगाए हुए ये पिशाच-ललनाएँ अपने प्रियतमों के साथ मिलकर नर-कपालरूपी पान पात्रों [=प्यालों] में मज्जारूप मदिरा का प्रसन्नतापूर्वक पान कर रही हैं ।'

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः,

एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीय पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यद् दूरनिकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥'

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम्,

'एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ विसृजति[1] रसौ रौद्र कारुण्यसंज्ञौ[2] ॥' [हनु० १२.१७]

इत्यादि में एक ही आश्रय [पिशाचाङ्गनाओं] में रति और जुगुप्सा [का समान रूप से प्राधान्य] है ।

५. अथवा, जैसे [एक ही आश्रय भगवान् शङ्कर में एक साथ तीन भावों का उपनिबन्धन इस प्रकार हुआ है]—

'ध्यान करने के लिए निमीलित कर [मीच] लेने से एक नेत्र तो प्रायः मुकुलित [बन्दकली के सदृश] है, और फिर दूसरा नेत्र पूजन करने को आयी हुई] पार्वती के मुख कमल एवं स्तनों पर संभोग-शृंगार के भाव से आलस्यान्वित होकर संलग्न है, और जबकि तीसरा नेत्र धनुष को अधिक खींचने वाले कामदेव पर किए गए क्रोध की अग्नि से प्रज्ज्वलित हो रहा है, समाधि के समय इस प्रकार भिन्न-भिन्न रसों [का आस्वाद लेने] वाले भगवान् शङ्कर के तीनों नेत्र आप लोगों की रक्षा करें ।'

इत्यादि में शम [शान्त], रति और क्रोध [का समान रूप से प्राधान्य] है ।

६. अथवा, जैसे ['हनुमन्नाटक' में मेघनाद द्वारा मायामयी सीता के दो टुकड़े कर देने पर जब राम मूर्छित हो जाते हैं तब जल का छींटा देते हुए लक्ष्मण चक्रवाकी की दृष्टि के समान इस प्रकार विलाप करते हैं]—

'दिन के समाप्त होने पर प्रियतम के वियोग की आशङ्का करने वाली चक्रवाकी जिस प्रकार क्रोध से भरी हुई एक दृष्टि से आकाश में स्थित सूर्य-बिम्ब को देखती है और दूसरी आँसू भरी लुलित [धूमिल दृष्टि वाली] आँख से अपने प्रियतम को देखती हुई रौद्र और करुण रसों से मिश्रत दो रसों को प्रकाशित करती है [उसी प्रकार लक्ष्मण राम का शीतोपचार और विलाप दोनों ही करने लगे] ।'

---

१. 'रचयति' इति वा पाठः । २. 'नर्तकीव प्रगल्भा' इति वा पाठः ।

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत्कथं न विरोधः ?

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी, तथा हि—'एक्कत्तो रुअइ पिआ' इत्यादौ स्थायीभूनोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम् । न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकवाक्यभावो युज्यते । किञ्चोपक्रान्ते संग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेन प्रस्तुतसंग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम् । अतो भर्तुः संग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति ।

एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादाच्छमैकपरत्वम् 'आर्याः समर्यादम्' इत्यनेन प्रकाशितम् ।

इत्यादि श्लोक में रति, शोक एवं क्रोध का सम-प्राधान्यतया उपनिबन्धन किए जाने से इनका परस्पर विरोध क्यों नहीं होगा ?

इस प्रश्न का **समाधान** करते हुए कहते हैं—यहाँ [इन उदाहरणों में] भी एक ही स्थायीभाव [का प्राधान्य] है । जैसे कि—

१. '**एक्कत्तो रुअइ पिआ**' [=एक ओर प्रियतमा रो रही है····] इत्यादि स्थल में 'उत्साह' स्थायीभाव है, और वितर्क उसका व्यभिचारीभाव है, और इस व्यभिचारी-भाव का जनक है सन्देह; तथा उस सन्देह की अभिव्यक्ति [उत्पादकता] के रूप में [प्रियतमा की] करुणा अर्थात् रुदन का एवं युद्ध-नाद का उपादान [=ग्रहण] किया गया है । [इस प्रकार उत्साह स्थायीभाव होने से यहाँ] वीर रस का ही परिपोष होता है । '**भटस्य**' [=योद्धा के] इस पद के प्रयोग के द्वारा इसी का प्रतिपादन है । यह भी कहना ठीक नहीं है कि—[करुण एवं उत्साह का] समप्राधान्य पारस्परिक अङ्गाङ्गिभाव [=उपकार्योपकारकभाव] से रहित भावों की एकवाक्यता का प्रतिबन्धक है [अर्थात् समान रूप से प्रधान दो भावों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता । अतः उनकी एक वाक्यता भी नहीं हो सकती; क्योंकि वे परस्पर साकाङ्क्ष होते हैं । इस स्थल पर दोनों का एक वाक्य में उपनिबन्धन अङ्गाङ्गिभाव का सूचक है; क्योंकि परस्पर साकाङ्क्ष भावों का ही एक वाक्य में कथन होता है] । इसके अतिरिक्त संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर सुभटों का अन्य कार्य [प्रेमादि] करना और प्रस्तुत [करणीय] संग्राम से औदासीन्य [का काव्य में उपनिबन्धन] महान् अनुचित ही होगा । अतः यहाँ प्रियतमा का करुण विप्रलम्भ [रूप रति भाव] पति की एक मात्र संग्राम में ही अभिरुचि प्रगट करते हुए, शौर्य को ही प्रकाशित करता हुआ, वीर-रस का ही परिपोष करता है ।

२. इसी प्रकार '**मात्सर्य**' [=ईर्ष्या] इत्यादि श्लोक में भी चिरकाल से चली आ रही रति रूप वासना का हेय [=तुच्छ] रूप में उपादान होना एकमात्र शम के वर्णन में ही तात्पर्य रखता है जो 'आर्याः समर्यादम्' [=आर्य गण ! मर्यादा का ध्यान रखते हुए] इस वाक्य-खण्ड से व्यक्त की गई है ।

एवम् 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविषादविभावविर्तकहेतुतया रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरमेव । 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव, 'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्यस्यापि योग्यन्तरसमाधिवैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता । 'एकेनाक्षणा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम् ।

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः । यथा [आनन्दवर्धनस्य]—

---

३. इसी प्रकार **'इयं सा लोलाक्षी'** [=यह वही लोल नेत्रों वाली] इत्यादि श्लोक में भी रावण के प्रतिपक्ष नायक होने से तथा उसके निशाचर होने से एवं उसके माया प्रधान होने के कारण यहाँ [प्रकृतितः] रौद्र-रस में ही तात्पर्य है । रौद्र-रस का व्यभिचारीभाव है विषाद; और विषाद का विभाव अर्थात् निमित्त है [सीता एवं लक्ष्मण के विषय में होने वाला] वितर्क । उस वितर्क के हेतु के रूप में रति एवं क्रोध का उपादान [रौद्र-रस में ही तात्पर्यान्वित] है ।

४. **'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः'** [=अंतड़ियों से मङ्गल सूत्रों की रचना करने वाली] इत्यादि श्लोक मात्र हस्य-रस का ही व्यञ्जक है ।

५. **'एकं ध्याननिमीलनात्'** [=ध्यान के समय एक नेत्र के निमीलित कर लेने से] इत्यादि श्लोक में [रति आदि] अन्य भावों से भगवान् शङ्कर को जो अविचलित दिखलाया गया है, उससे उनके शमभाव का अन्य योगियों के शमभाव से विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए मात्र शम की ही अभिव्यञ्जना की गई है । इस प्रकार 'समाधिसमये' [=समाधि के समय में] इस पद से [मात्र शम के ही प्राधान्य का] स्पष्टतया प्रतिपादन है ।

६. **'एकेनाक्षणा'** इत्यादि श्लोक में समस्त वाक्य का भावी विप्रलम्भ [=वियोग] में ही तात्पर्य है ।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं भी अनेक भावों के वर्णन में तात्पर्य नहीं है ।

[यह स्थिति तो अश्लिष्ट पदों के प्रयोग की रही] किन्तु जहाँ श्लेष आदि [अर्थात् ध्वनि, समासोक्ति, अन्योक्ति, व्यतिरेक आदि] से युक्त वाक्यों में अनेक अर्थों में तात्पर्य होता है, वहाँ वाक्यार्थ का भेद करके स्वतन्त्र रूप से ही दो अर्थों की उपस्थिति होती है । अतः वहाँ भी कोई दोष [=विरोध] नहीं है [अर्थात् श्लिष्ट श्लोकों में जहाँ अनेक रसों के तात्पर्य से पद पदार्थों की संघटना है वहाँ भी विरोध की सम्भावना नहीं है] । जैसे [आनन्दवर्धन के प्रस्तुत श्लोक में]—

'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं[1] चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥'[ध्वन्या०२.२१]

इत्यादौ । तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः । यथा वा श्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः ।

'जिनका केवल हाथ ही देखने में सुन्दर है [अथवा जो हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करने वाले हैं], जिन्होंने अपने चरणारविन्द से [अथवा वामनावतार में चरण के ललिताख्य विक्षेप से] तीनों लोकों को जीत लिया एवं [सूर्य] चन्द्ररूपी नेत्रों को धारण करने वाले हैं जिन भगवान् विष्णु [=कृष्ण] ने, समस्त श्लाघनीय [=प्रशंसनीय] शरीर को धारण करने वाली, समस्त अङ्गों-की-लीलामात्र से त्रैलोक्य को जीत लेने वाली और सम्पूर्ण चन्द्र सदृश मुखमण्डल को धारण करने वाली, जिन [रुक्मिणी] को उचित रूप से ही अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा, वह रुक्मिणी आप सब की रक्षा करें ।'

परिष्कार—यहाँ वाच्यरूप व्यतिरेक की छाया के अनुग्राहक होकर श्लेष की प्रतीति होने से विरोध नहीं है । इस उदाहरण में श्लेष के द्वारा भगवान् विष्णु के शरीर की अपेक्षा रुक्मिणी के शरीर के सौन्दर्य की उत्कृष्टता प्रदर्शित की गई है । रुक्मिणी भगवान् कृष्ण से अपेक्षाकृत अधिक हैं क्योंकि रुक्मिणी का सम्पूर्ण शरीर सुन्दर है । किन्तु भगवान् के केवल हाथ ही सुन्दर हैं । भगवान् ने केवल पैरों से ही लोकों को आक्रान्त किया । किन्तु रुक्मिणी ने सारे शरीर-की-लीलामात्र से ही तीनों लोकों को जीत लिया । भगवान् के केवल नेत्र ही चन्द्रात्मक हैं जबकि रुक्मिणी का सम्पूर्ण मुख 'चन्द्र' है । इस प्रकार यहाँ व्यतिरेकालङ्कार वाच्य है, क्योंकि कवि ने स्वयं कह दिया है कि भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर की अपेक्षा अधिक समझा । इस व्यतिरेक को अनुगृहीत करने वाला श्लेष उसका पोषक मात्र है, जो रुक्मिणीविषयक कविगत रति [=भक्ति] भाव में ही तात्पर्य रखता है । अतः अनेक रसों के तात्पर्य से पद-पदार्थों की संघटना वाले श्लिष्ट श्लोक में भी कोई विरोध की सम्भावना नहीं है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विधि से रत्यादि स्थायीभावों के उपनिबन्धन में सर्वत्र विरोध की स्थिति परिहृत हो जाएगी; अथवा, जिन वाक्यों में रत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं होता, वहाँ भी रत्यादि भावों के वणन में ही तात्पर्य निहित है, जिसे आगे दिखलाया जायगा ।

परिष्कार—[क] चौबिसवीं कारिका में स्थायीभाव का लक्षण बतलाकर वृत्तिकार ने मालतीमाधव का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि विरोधी और अविरोधी भावों का समावेश काव्य में स्थायी का बाधक नहीं होता

---

१. 'रूपमखिलम्' इति वा पाठः (ध्वन्या० २.२१) ।

ते च—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः। तत्र केचिदाहुः—'नास्त्येव शान्तो रसः'। तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। यथा तथास्तु। सर्वथा

क्योंकि उनमें से एक प्रधान होता है और दूसरा उसका अङ्ग होकर रहता है [ख] फिर 'ननु' से प्रश्न खड़ा किया गया है कि जहाँ दोनों भावों का समप्राधान्य होगा वहाँ क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर में वृत्तिकार ने विभिन्न रसों के समप्राधान्य का छः उदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्रमशः एक-एक उदाहरण में रस के अङ्गाङ्गिभाव का प्रदर्शन किया है, और 'श्लिष्ट श्लोकों में जहाँ अनेक रसों के तात्पर्य से पद-पदार्थों की संघटना होती है वहाँ पर भी विरोध की सम्भावना नहीं है' यह कहते हुए आनन्दवर्धन का एक श्लोक उद्धृत किया गया है। इस प्रकार उक्त विधि से उपनिबद्ध रत्यादि भावों में सर्वत्र विरोध का परिहार दिखलाया गया है।

और, वे [स्थायीभाव निम्नलिखित] हैं—

१. रति; २. उत्साह; ३. जुगुप्सा; ४. क्रोध; ५. हास; ६. विस्मय; ७. भय तथा ८. शोक। [इनके अतिरिक्त] कुछ आचार्य शम को भी [नौवा] स्थायीभाव कहते हैं। किन्तु इसकी पुष्टि नाट्यों में नहीं होती ॥ ३५ ॥

इस स्थल में शान्त रस के प्रति आचार्यों की अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ [=मतविभिन्नता] हैं। [i] उनमें से कुछ लोग कहते हैं 'शान्त नाम का कोई रस ही नहीं है क्योंकि आचार्य [भरत] के द्वारा [नाट्यशास्त्र में] न तो उसके विभावादिकों का ही वर्णन किया गया है और न तो उसका लक्षण ही किया गया है। [ii] **दूसरे आचार्यों** के अनुसार 'वास्तविक रूप से शान्त रस की सत्ता ही नही हो सकती; क्योंकि जो राग और द्वेष अनादि काल से अनवरत प्रवाह के रूप में [अन्तःकरण में] चलता चला आ रहा है उसका [व्यावहारिक रूप से] सर्वथा उच्छेद असम्भव है [अर्थात् शम की पुष्टि ही शान्त-रस है और शम की उत्पत्ति राग-द्वेष के समूल नष्ट होने पर ही निर्भर करती है जिसका उच्छेद वास्तविकता से परे है]। [iii] **अन्य आचार्य** तो वीर तथा बीभत्स आदि रसों में ही शान्त रस के अन्तर्भाव का प्रतिपादन करते हैं; और ऐसा कहते हुए वे शम भाव का भी खण्डन कर देते हैं। [iv] [लौकिक रूप में] जो कुछ

नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्याऽविरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्। तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च नान्तरीयकफलत्वेनाविरोधादभीप्सितम्। एवं च सर्वत्र द्रष्टव्यमिति। परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं संपद्यत इत्यावेदितमेव प्राक्। अतोऽष्टावेव स्थायिनः।

ननु च—

'रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्राकाममस्तीति तेऽपि रसाः।" [काव्यलङ्कारे १२.४]

भी [ठीक] हो, [पर इतना तो निश्चित ही है कि] हम [नाट्यशास्त्री] तो अभिनयात्मक नाटक आदि [अर्थात् प्रकरण आदि] में 'शम' के स्थायीभाव होने का सर्वथा निषेध करते हैं; क्योंकि उस [शम की अवस्था] में समस्त व्यापारों [=actions] का विलय [=अभाव] हो जाता है; अतएव वह [क्रियारहित दशा] अभिनय-सम्भाव्य नहीं है।

और, जिन किन्हीं लोगों ने 'नागानन्द' में शम को स्थायीभाव बतलाया है वह तो, प्रबन्ध की समाप्तिपर्यन्त चलने वाले मलयवती के प्रति [जीमूतवाहन के] अनुराग और 'विद्याधर-चक्रवर्ती'—पद की प्राप्ति के विरुद्ध है। एक ही अनुकार्यस्वरूप विभाव का आश्रय करके परस्पर-विरोधी शम एवं रति [शान्त एवं शृङ्गार] की उपलब्धि कहीं भी नहीं देखी गई। अतएव [नागानन्द में 'शम' स्थायीभाव नहीं है। किन्तु दानवीर और रणवीर (दश० ४'७२) के ही समान] दयावीर का उत्साह ही वहाँ स्थायीभाव है। उसी [दयावीर के उत्साह] का अङ्ग शृङ्गार रस भी हो गया है; और चक्रवर्ती के पद का आनुषङ्गिक-फल को प्राप्ति के रूप में वर्णन होने से विरोध न होने के कारण अभीष्ट ही है। और, इसी प्रकार सभी स्थलों पर देख लेना चाहिए। 'परोपकार में प्रवृत्त विजिगीषु [=विजय की अभिलाषा वाले] को संयोगवशात् आनुषङ्गिक रूप फल भी मिल जाता है'—ऐसा [धीरोदात्त नायक के लक्षण के प्रसङ्ग में पहले [दश० २'४ में] कहा भी जा चुका है। अतः [नाट्य में] आठ ही स्थायीभाव होते हैं।

प्रश्न यह है कि—

'जिस प्रकार मधुर, अम्ल आदि आस्वाद्य होने के कारण 'रस' कहलाते हैं; उसी प्रकार इन [रत्यादि स्थायीभावों] को भी आस्वाद्य होने के कारण ही आचार्यों ने 'रस' कहा है, [क्योंकि इनका रसन अर्थात् स्वाद प्राप्त किया जाता है अतः ये भी रस हैं]। यह आस्वाद्यरूपता निर्वेद आदि भावों में पर्याप्त रूप से विद्यमान है, इसलिए वे भी रस हैं।'

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः।

अत्रोच्यते—

निर्वेदादिरतादूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥ ३६॥

[अतादूप्यात् =] विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति। न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हास्यादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात्।

इत्यादि कथन के द्वारा अन्य [=रुद्रट] आचार्य ने [आठ रसों के अतिरिक्त] अन्य रसों को भी स्वीकार किया है; और ऐसा करते हुए [उन रसों के] अन्य स्थायीभावों की भी कल्पना की है। इस प्रकार 'स्थायीभाव आठ ही हैं' यह अवधारण कर देना ठीक नहीं बैठ पाता।

[अतः इस स्थल पर] यहाँ [कारिकाकार धनञ्जय इस प्रकार **समाधान**] बतलाते हैं—

निर्वेद आदि में तादूप्य का अभाव होने से वे अस्थायी भाव हैं [अर्थात् निर्वेद आदि में विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से उच्छिन्न न होने के गुण का अभाव होने से वे निर्वेद आदि स्थायीभाव ही नहीं हो सकते]; और उनका [रस के समान] आस्वादन भी किस प्रकार हो सकता है? यदि किसी प्रकार [इसे स्थायी मानकर अन्य रसों की भाँति] उनकी पुष्टि भी हो जाए तो वह वैरस्य ही उत्पन्न करने के लिए होगी। इसीलिए आठ ही स्थायीभाव माने गए हैं॥ ३६॥

[किसी भी भाव के स्थायी होने का तात्पर्य है उसका] विरोधी एवं अविरोधी भावों से उच्छिन्न न होना; किन्तु निर्वेदादिकों में यह स्थिति न होने के कारण इन्हें स्थायीभाव नहीं कहा जा सकता। इसलिए [स्थायी की भाँति आस्वाद न होने के कारण] वे **यदि** अपने-अपने चिन्ता आदि व्यभिचारीभावों से अन्तरित [पृथक्] कर दिए जाकर परिपुष्ट किए जाते हुए भी वस्तुतः वे वैरस्य को ही उत्पन्न करते हैं। **[यदि** कोई यह कहे कि निर्वेदादि भावों का अन्त अर्थात् परिणाम फलरहित है इसलिए उनको स्थायी भाव नहीं माना जा सकता, तो यह बात नहीं है] निष्फलावसानत्व के ही कारण इन [निर्वेदादि] को स्थायी न मानने पर तो हास आदि भावों का भी स्थायित्व नहीं बन पाएगा [क्योंकि हास का मनोरंजन के अतिरिक्त कोई लौकिक या पारलौकिक फल नहीं होता। **यदि** कोई यह कहे कि हास आदि किसी न किसी स्थायी के अंग बनकर

पारंपर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात्। अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति। किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम्। न च निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः। ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते। अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता।

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः? न तावद् **वाच्यवाचकभावः**; स्वशब्दैरनावेदितत्वात्। न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते। येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात्। यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण।

फलयुक्त हो जाते हैं तब तो] परम्परया निर्वेद आदिकों का भी फल होता ही है। अतः निष्फल होना किसी भाव के स्थायी होने या न होने का प्रयोजक नहीं बन सकता। **किन्तु** किसी भी भाव के स्थायी होने [या न होने] में कारण विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से तिरस्कृत न होना ही है; और, यह [तिरस्कृत न होने की] बात निर्वेदादि के विषय में नहीं कही जा सकती। अतः वे स्थायीभाव नहीं बन सकते। इसी कारण उनका रसत्व भी नहीं माना जा सकता। अतएव अस्थायीभाव होने के कारण ही निर्वेद इत्यादि रस नहीं हो सकते।

स्थायीभाव एवं रस का काव्य से सम्बन्ध—

[अब प्रश्न यह है कि] इन [स्थायीभावों एवं रसों] का काव्य से क्या सम्बन्ध है? [क्या इनमें परस्पर वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है?] नहीं, (i) इनमें **वाच्य-वाचकभाव** सम्बन्ध [अर्थात् स्थायीभाव वाच्य हो और काव्य वाचक हो यह] तो हो नहीं सकता, क्योंकि अपने शब्दों से [अर्थात् रत्यादि शब्दों के द्वारा स्थायीभाव अथवा रस का] कथन कहीं भी नहीं किया जाता; और, शृंगार आदि रसों के काव्यों में शृङ्गार आदि [रस-वाचक] अथवा रति आदि [स्थायीभाव के वाचक] शब्द भी नहीं सुने जाते, जिससे यह प्रकट हो सके कि रति आदि भाव अथवा उनके परिपुष्ट स्वरूप [अर्थात् शृङ्गार आदि रस] वाच्य होते हैं। और, जहाँ कहीं ये शब्द सुने भी जाते हैं तो, वहाँ पर भी विभाव आदि के वर्णन के द्वारा ही इन [रति आदि] का आस्वादन होता है, मात्र रति आदि शब्दों के वाच्य होने से ही [उनका आस्वादन] नहीं [होता]।

परिष्कार—स्थायीभावों एवं रसों की संख्या का निर्धारण हो जाने पर प्रश्न उठता है कि इन स्थायीभावों एवं रसों का काव्य-नाटक से क्या सम्बन्ध है? सहृदय जनों को काव्य या नाटक के द्वारा रस की प्रतीति किस तरह होती है, किंवा किस प्रक्रिया या किस व्यापार से होती है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यों द्वारा अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। उनमें प्रमुख मत ध्वनिवादी आचार्य [आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट] का है। ये रस एवं काव्य के बीच व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव संबन्ध मानते हुए व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा रस की प्रतीति मानते हैं। वस्तुतः वे अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य—इन वृत्तियों [=शब्दशक्तियों] से भिन्न तुरीया शब्दशक्ति व्यञ्जनावृत्ति की

नापि **लक्ष्यलक्षकभावः**, तत् सामान्याभिधायिनस्तु–लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । उक्तं च—

'क्रियासमन्वयायोगाच्छब्दः स्वार्थे स्खलद्गतिः ।
अर्थान्तरं क्रियायोग्यं लक्षयेदिति लक्षणा ॥ इति

यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात् स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतार्थलक्षणं तटमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादि-

---

कल्पना करते हैं । इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन रस को वाच्य, लक्ष्य या तात्पर्यार्थ मानने में सहमत नहीं हैं । उनके अनुसार न तो रस वाच्य है और न काव्य उसका वाचक ही है । अभिधा एवं लक्षणा शब्द की शक्तियाँ हैं । अभिधाशक्ति के द्वारा शब्द तथा उसके अर्थ में जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं वह सम्बन्ध वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध कहलाता है । जैसे सास्नादि से युक्त पशु का वाचक 'गो' शब्द है और तद्-विशिष्ट पशु ही उसका वाच्य है । काव्य तथा रस के बीच यह सम्बन्ध मान्य नहीं है; क्योंकि स्थायीभाव स्वशब्द से कथित नहीं होते; अपितु विभावादिकों के द्वारा बोध्य होते हैं; और यदि कहीं रत्यादिकों का स्वशब्दवाचक शब्द [रति या शृङ्गार] से बोध होता भी हो तो वहाँ उसकी आस्वाद्यता का कारण वह अभिधेयक शब्द नहीं होता; प्रत्युत विभाव आदि के ही कारण इनकी रसरूपता सम्भव है, केवल अभिधायक शब्द-मात्र से ही वह आस्वाद्य होता हो ऐसा कभी भी सम्भव नहीं है ।

भावों का काव्य के साथ (ii) **लक्ष्य-लक्षकभाव सम्बन्ध** भी नहीं बन सकता [अर्थात् रति आदि भाव लक्ष्य हों और काव्य उनके लक्षक हों—यही भी नहीं हो सकता] क्योंकि विशेष रस की प्रतीति के लिए सामान्य पद [रस] का प्रयोग होता ही नहीं । [अर्थात् रस सामान्य वाचक है और प्रतीति किसी विशेष रस की होती है । इस प्रकार सामान्य रस, शृङ्गार आदि विशेष के वाचक हो नहीं सकते । अतः लक्ष्य-लक्षणावृत्ति से रत्यादि भाव प्रतीति गम्य हैं—यह भी नहीं कहा जा सकता है] । जैसा कि कहा भी गया है—

'क्रिया-समन्वय के योग से शब्द के अपने अर्थ से स्खलित होने पर क्रिया के अनुरूप योग्य अर्थान्तर को जो लक्षित करता है वह लक्षणा होती है ।' जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' [=गंगा में घर है] इत्यादि स्थल में [लक्षित-लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है वैसी लक्षित-लक्षणा के द्वारा भी रस एवं भाव की प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि वहाँ ['गङ्गायां घोषः' में] तो स्रोत-स्वरूप गङ्गा में घोष [=घर] की आधारता [रहना] सम्भव नहीं है । अतः [गङ्गा प्रवाह रूप] अपने अर्थ की प्रतीति कराने में 'गङ्गा' शब्द की गति कुण्ठित हो जाती है; फलतः वही गंगा शब्द अपने अर्थ स्रोत से नित्य सम्बद्ध तट रूप अर्थ को उपलक्षित करता है । किन्तु यहाँ [दृश्यकाव्य में] तो नायक आदि

शब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् । अत एव गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

शब्द, [जो विभावादिकों के निरूपण के द्वारा रस-प्रतीति में सहायक होते हैं] अपने अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ नहीं हैं । अतः वे क्यों-कर किसी [भाव आदि] अन्य अर्थ को लक्षित करेंगे ? अथवा, निमित्त अर्थात् रूढि और प्रयोजन के बिना तथा मुख्यार्थ के उपपन्न रहने पर भला कौन लाक्षणिक [शब्द का] प्रयोग करेगा ? इसीलिए 'सिंहो माणवकः' [=बालक सिंह है] इत्यादि की भाँति यहाँ गुणवृत्ति से भी इन [भाव आदि] की प्रतीति नहीं हो सकती ।

परिष्कार—[क] 'अर्थ बोध कराने की' शब्दों में शक्ति होती है । यह अर्थ बोध जिस व्यापार से होता है उसे 'वृत्ति' नाम से आचार्यों ने अभिहित किया है । शब्द की शक्ति १. अभिधा २. लक्षणा और ३. व्यञ्जना भेद से तीन प्रकार की स्थिर की गई है । मुख्य अर्थ का अर्थात् वाच्यार्थ के बोधक शब्द-व्यापार को अभिधा-वृत्ति कहते हैं । साधारणतया लोक में अभिधा द्वारा बोधगम्य शब्दों का प्रयोग होता है । अतः सबसे पहले अभिधा शक्ति के द्वारा ही वाच्यार्थ का बोध हमें होता है । किन्तु किसी वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द जब उसके साक्षात् अर्थ को लेने पर प्रकरण में ठीक नहीं बैठ पाता [=तात्पर्यानुपपत्ति] तो हम उस दशा में मुख्यार्थ का त्याग कर देते हैं; तथा शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा से अर्थ जानने का प्रयत्न करते हैं । लक्षणा शक्ति तभी क्रियाशील होती है जब **मुख्यार्थबाध, तद्योग** और **रूढ़ि या प्रयोजन** वहाँ उपस्थित हो ।[1] वहाँ शब्द अपने अर्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध कराने लग जाता है । यह अन्य अर्थ या तो रूढ़ अर्थात् लोकप्रसिद्ध होता है या तो उसके बोध कराने में उसका कोई प्रयोजन होता है । इसी अन्य अर्थ को लक्ष्य अर्थ कहते हैं । यही शब्दव्यापार लक्षणा के नाम से अभिहित किया जाता है । लक्षण ग्रन्थों में इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है । अभिधा शक्ति के द्वारा 'गङ्गा' का मुख्य अर्थ 'गङ्गा की धारा' या 'गङ्गा का प्रवाह' है; और 'घोष' का अर्थ 'बस्ती' है । इस प्रकार अभिधावृत्ति द्वारा गम्य अर्थ हुआ 'गंगा के प्रवाह में आभीरों की बस्ती है' । जबकि गङ्गा में आभीरों की बस्ती [=घोष] स्थित नहीं रह सकती; क्योंकि प्रवाह तो कभी भी किसी बस्ती का आधार नहीं हो सकता । अतः **मुख्यार्थ का बाध** हो जाता है क्योंकि वाच्यार्थ ठीक नहीं बैठता । अतः 'गंगा के तीर पर आभीरों की बस्ती है' यह अन्य अर्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ लेना होगा । 'गंगा प्रवाह' के समीप 'गंगा तीर' होने के कारण दोनों में **योग** है ही । अर्थात् लक्ष्यार्थ एवं मुख्यार्थ का सम्बन्ध भी है; तथा इस वाक्य में गंगा शब्द के प्रयोग का **प्रयोजन** यह है कि गंगा के तीर में भी गंगा के प्रवाह की शीतलता एवं पवित्रता की

---

१. मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योर्थो लक्ष्यते यत सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥ [काव्यप्रकाश २.९]

प्रतीति हो जाय। इस प्रकार शैत्य एवं पावनत्व आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिए ही 'गंगा' शब्द की 'तीर' में लक्षणा मानी जाती है। इसे प्रयोजनवती-लक्षणा कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है। १. उपादान-लक्षणा, और २. लक्षण-लक्षणा। उपादान-लक्षणा का उदाहरण है 'काकेभ्यो दधि रक्षताम्'। यहाँ पर 'काक' शब्द उपलक्षण रूप से गृहीत [उपादान] है; और लक्षण-लक्षणा में कोई शब्द अपने मुख्यार्थ को त्याग कर स्व-सम्बद्ध अन्य अर्थ [=लक्ष्य-अर्थ] का उपलक्षक हो जाता है, जैसे 'गङ्गायां घोषः'।

'नापि लक्ष्यलक्षकभावः.....' इत्यादि स्थल में वृत्तिकार ने ध्वनिवादियों का खण्डन किया है और यह स्थिर किया है कि उपादान लक्षणा या लक्षण-लक्षणा के द्वारा काव्य में रस आदि की प्रतीति नहीं हो सकती है। मुकुल भट्ट रस को लक्षणागम्य ही मानते हैं;[1] जिसका खण्डन मम्मट ने किया है उसी को प्रस्तुत स्थल में वृत्तिकार संक्षेप से उपस्थित करते हैं। निष्कर्ष यह है कि काव्य में प्रयुक्त शब्दों के मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण लक्षणा के हेतु के उपस्थित न होने से लक्षित-लक्षणा के द्वारा भी काव्य में रस की प्रतीति नहीं हो सकती।

(ख) मीमांसक आचार्य प्रभाकर आदि लक्षणा से भिन्न 'गौणीवृत्ति' को मानते हैं। गौणीवृत्ति भी मुख्यार्थबाध आदि तीनों हेतुओं के रहने पर ही होती है। मात्र भेद इतना ही है कि इसमें लक्ष्य अर्थ के वाचक शब्द का भी प्रयोग होता है; जैसे 'सिंहो माणवकः' = 'बालक सिंह है' अर्थात् बालक में शौर्यादि विशिष्ट लक्ष्य है। इस प्रकार माणवक जो लक्ष्य-अर्थ का वाचक है, इसका भी प्रयोग शब्दतः किया गया है। अतः यह भी लक्षणा ही है। मात्र नाम का भेद है। इसीलिए मम्मट आदि आचार्यों ने गौणीवृत्ति को लक्षणा के अन्तर्गत माना है। शुद्धा और गौणी भेद से मीमांसकों की लक्षणा दो प्रकार की है। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा हो वह गौणी है और जहाँ सादृश्य से भिन्न और किसी सम्बन्ध से लक्षणा हो वह शुद्धा है। 'सिंहो माणवकः' उदाहरण में गौणी लक्षणा है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' [= भाले प्रवेश कर रहे हैं] में शुद्धा लक्षणा है। कुन्त शब्द से कुन्तधारी पुरुष का बोध हमें लक्षणा से होता है। अतः रस आदि की प्रतीति गौणीवृत्ति के द्वारा भी नहीं हो सकती क्योंकि काव्य में मुख्यार्थ का बाध आदि उपस्थित ही नहीं है। इसी का प्रतिपादन संक्षेप से वृत्तिकार ने 'अतएव 'सिंहो.....नेयं प्रतीति' के द्वारा किया है।

१. वे 'दुर्वारामदनेषवो' आदि उदाहरण में विप्रलम्भ शृङ्गार को लक्ष्य मानते हुए—"तात्पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा' आदि लिखते हैं। [अभिधावृत्तिमातृका पृ० १४]

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात् तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत्।

न च **काल्पनिकत्वम्**, अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः। अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति।

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात्? यथा कुमारसम्भवे—

विवृण्वतो शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुटद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥' [कुमार०३ ६८]

और यदि वाच्य रूप से अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा रस की प्रतीति होने लगे तब तो केवल वाच्य-वाचक भाव अर्थात् काव्य के मात्र अर्थ का परिज्ञान रखने वाले [= अव्युत्पन्न चित्त] अरसिकजनों को भी काव्य का रसास्वाद होने लगेगा। किन्तु यह नहीं होता कि मुख्यार्थ मात्र जानने वाले असहृदय को रस की प्रतीति होने लग जाय। सहृदय को ही रसानुभूति होती है। अतः वाच्यवाचकभाव मात्र का ज्ञान होने से ही अरसिक जन को रसास्वाद नहीं हो पाता। अतः रस वाच्यार्थ नहीं है और न तो काव्य एवं रस में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध ही है।

(iii) और, रस की प्रतीति **काल्पनिक** भी नहीं है, क्योंकि सभी रसिकजनों को समान रूप से रसास्वादन होता है [मात्र कल्पना करने वाले को ही आस्वादन हो—ऐसी बात नहीं है।] अतः अभिधा एवं लक्षणा के क्षेत्र से रसास्वाद के बाहर होने के कारण] कुछ [= ध्वनिवादी] आचार्य अन्य अर्थों का बोध कराने में निश्चित शक्तियों वाली अभिधा, लक्षणा तथा गौणी वृत्तियों से नितान्त भिन्न 'व्यञ्जना' नाम की एक नई ही वृत्ति मानते हैं; जिसका क्षेत्र रस, अलंकार तथा वस्तु तीनों ही होता है। [तीनों के उदाहरण क्रमशः नीचे दिए जा रहे हैं]—

(१) रस-व्यञ्जना—

क्योंकि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव के द्वारा रस आदि की प्रतीति होती है तो **प्रश्न** यह है कि फिर वह वाच्य कैसे हो सकती है अर्थात् काव्योपात्त शब्दों का वाच्य रस कैसे हो सकता है? जैसा कि 'कुमारसम्भव' में [इन्द्र के आदेशानुसार हिमालय में कामदेव के मायाजाल फैलाने पर जब पार्वती को देखकर भगवान् शंकर का चित्त चञ्चल हो उठा तब]—

'खिलते हुए कदम्ब के फूल के समान [रोमाञ्चयुक्त] अपने कोमल अङ्गों से मनोगत भाव को सूचित करती हुई तिरछी चितवन से युक्त वदनारविन्द से सुशोभित पार्वती कुछ तिरछी होकर खड़ी रहीं।'

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद् गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाऽश्
शृङ्गारप्रतीतिरुदेति । रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः । न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽ

यथा—'भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोला जडविअड कुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥' [गाथा० २.७
('भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदा तटविकट कुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥')

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशब्दापि व्यञ्जकशक्तिमूलैव ।

इत्यादि श्लोक में [शिव-विषयक] अनुराग से उत्पन्न होने वाली जो अवस्था-वि
रूप [अङ्गों का पुलक, नेत्रों का चाञ्चल्य, मुख का साचीकरण आदि] अनुभाव है उ
युक्त गिरिजा रूप विभाव के वर्णन से ही शृङ्गाररस की प्रतीति होती है, यद्
[रत्यादि वाचक] शब्द वहाँ नहीं हैं । अन्य रसों के विषय में भी यही नियम है ।

(२) वस्तु-व्यञ्जना—

यह नियम केवल रस के विषय में ही हो ऐसी बात नहीं है; अपितु वस्तुमात्र व्यञ्जना में यही स्थिति होती है । जैसे [किसी नायिका के संकेतकुञ्ज में कोई भग जी फूल तोड़ने जाने लगे । इन्हें देख उसने अपने कुत्ते को हुलकारा । किन्तु कुत्ते भूँकते रहने पर भी वे कुञ्ज तक पहुँच ही गए । इस पर वह बहुत तंग हुई और दूस दिन उसने इनसे कहा]—

'हे धार्मिक ! निश्चिन्त होकर [बेखटके] घूमो, गोदावरी तट के बीहड़ कुंजों रहने वाले उस मस्त सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला ।'

इत्यादि गाथा में निषेधवाचक शब्दों के बिना भी निषेध की प्रतीति का होन व्यञ्जनाशक्तिमूलक ही है ।

परिष्कार—(क) कोई नायिका अपने प्रियतम से गोदावरी तट पर मिला करती थी । वहाँ पर स्नान के लिए जाने वाले किसी धार्मिक के कारण उनकी प्रेम लीला में विघ्न पड़ता था । वह धार्मिक कुत्ते से डरता था । अतः सिंह द्वारा उस कुत्ते के मार डालने की झूठी घटना उससे कह दी । इस प्रकार गाथा का **वाच्यार्थ** है कि स्वच्छन्द विचरण करो' किन्तु **व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक** है कि कल तो वह कुत्ता ही था और आज वहाँ मस्त सिंह बैठा है जो देखते ही तुम्हें खा जाएगा । इस प्रकार यहाँ वस्तु के द्वारा व्यञ्जना कराई गई होने से यहाँ **वस्तु-व्यञ्जना** है ।

[ख] ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की सम्पुष्टि के लिए इस गाथा को उद्धृत किया है । ध्वनिप्रस्थान के विरोधी और अनुमान के पक्षपाती आचार्य महिम भट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में इस गाथा को अनुमान द्वारा लगाया है । इसका खण्डन ध्वनिप्रस्थान के परम समर्थक आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में विभिन्न तर्कों से किया है । उन विषयों का परिज्ञान उन्हीं ग्रन्थों से करना चाहिए ।

यालङ्कारेष्वपि—[आनन्दवर्धनस्य]—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥' [ध्वन्या० २.२७]

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्व-
धनीति ।

न चासावर्थापत्तिजन्या, अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नापि वाक्यार्थत्वम्,
ऽस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात् । तथा हि—'भ्रम धार्मिक' [गाथा० २.७५] इत्यादौ
र्थविषयाभिधालक्षणप्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षा-

---

) अलङ्कार-व्यञ्जना—

यही बात अलङ्कार के प्रतीयमान अर्थ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । [ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने नायिका के सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार या है]—

हे चञ्चल एवं आयत नेत्रों वाली ! अपने लावण्य [=सौन्दर्य] की कान्ति से
शाओं के मुख को पूर्ण कर देने वाले तुम्हारे मुस्कुराते हुए मुख को देखकर भी जो
ह समुद्र बिल्कुल क्षुब्ध नहीं हो रहा है अतः मैं यही समझता हूँ कि इस बात से यह
पष्ट प्रकट हो रहा है कि समुद्र सचमुच ही जलराशि है [जाड्य का समूह मात्र है
अर्थात् मूर्ख है जो कि तुम्हारे मुखरूपी पूर्ण चन्द्र को देखकर यह क्षुब्ध नहीं होता ।
तुम जैसी अनिन्द्य सुन्दरी को देखकर किसका मन चञ्चल नहीं होगा ?]

इत्यादि श्लोक में 'तन्वी का वदनारविन्द चन्द्र के तुल्य है' इत्यादि उपमा अलङ्कार की प्रतीति व्यञ्जना-शक्ति के ही कारण हो रही है ।

इस प्रतीति को अर्थापत्तिजन्य भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अर्थापत्ति के लिए अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा रहती है, अर्थात् अर्थापत्ति तो वहीं होती है जहाँ एक अर्थ अनुपपन्न हो रहा हो । इस प्रतीति को हम वाक्यार्थ भी नहीं कह सकते, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ तृतीय कक्षा [=क्षण] का विषय है अर्थात् व्यङ्ग्य की प्रतीति सदा तीसरे क्षण में होती है । जैसे कि 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इत्यादि स्थल में पहले पदार्थ की प्रतीति होती है जो अभिधावृत्ति का कार्य है । प्रथम कक्षा की पदार्थ की प्रतीति के अनन्तर [अर्थात् जब काव्योपात्त समस्त पद स्वतन्त्र रूप से वाक्य के पदों की अपनी अपनी अभिधा से अपना अपना वाच्यार्थ बता चुकेंगे तब] द्वितीय कक्षा [=क्षण] में

स्य तृतीयकक्षा-
पत्तेः । प्रकरणात्

दुक्तम्—

ा विषय नहीं

अर्थ की परि-
हाँ निषेधार्थ
ा में ['विष
र्थात् अन्वय
ोती [अतः
ती रहती
को विष

कक्षा में
र्थ रूप
विषयक
तृतीय
रण से
का पुत्र
ठीक
ादेश
अर्थ
की
पन
नेक

का
ी
ा

तिक्रान्ततृतीयकक्षाक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीनः स्फुटमेवावभासते। अतो नासौ वाक्यार्थः।

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थः। न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं

क्रिया कारक संसर्ग स्वरूप 'स्वच्छन्द भ्रमण करो' इस प्रकार विधिविषयक वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनन्तर तृतीय कक्षा [=क्षण] में 'भ्रमणनिषेध' रूप व्यङ्ग्यार्थ जो व्यञ्जनाशक्ति के अधीन है, स्पष्ट ही भासित होता है। अतः [द्वितीय क्षण में प्रतीत होने वाले] इस वाक्यार्थ से [तृतीय क्षण में प्रतीत होने वाला] व्यङ्ग्यार्थ सदैव भिन्न ही है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ और वाक्यार्थ अलग अलग हैं।

परिष्कार—(क) प्रस्तुत 'लावण्य' आदि श्लोक में नायिका का मुख 'पूर्ण चन्द्र तुल्य है'—इस उपमा अलङ्कार की प्रतीति हो रही है जबकि श्लोक में उपमा का वाचक कोई शब्द नहीं है। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन यहाँ रूपक अलङ्कार को व्यङ्ग्य मानते हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार का यहाँ अभिमत यही है कि उपमा अलङ्कार रूप इस अर्थ को अभिधा का विषय न मानकर व्यञ्जना प्रतिपाद्य ही मानना होगा। (ख) मीमांसक व्यङ्ग्यार्थ को अर्थापत्तिग्राह्य मानते हैं। ये लोग यथार्थ ज्ञान के साधन रूप प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान प्रमाण के अतिरिक्त एक नया 'अर्थापत्ति' नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। अर्थापत्ति वहीं पर होती है जहाँ एक अर्थ अनुपपन्न हो रहा हो। जैसे 'स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता' तो फिर बिना भोजन के मोटा कैसे है? इसलिए उसके रात्रि भोजन का बोध हमें आपाततः होता है; यही 'अर्थापत्ति' है। प्रस्तुत 'लावण्य' आदि स्थल में उपमा अलङ्कार की प्रतीति हम अर्थापत्ति से नहीं मान सकते क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ तृतीय क्षण में प्रतीत होता है जबकि वाक्यार्थ का बोध तो हमें द्वितीय क्षण में ही हो जाता है; जैसे 'भ्रम धार्मिक' आदि स्थल में हमें पहले अभिधावृत्ति से स्वतन्त्र रूप में एक-एक पद के वाच्यार्थ का बोध होगा; फिर सारे वाक्य में क्रिया कारक के संसर्ग से 'निश्चिन्त होकर घूमो' इस विधि रूप वाक्यार्थ का बोध होगा; तब तीसरे क्षण में जाकर 'वहाँ कभी न जाना' इस निषेध रूप व्यङ्ग्यार्थ का बोध होगा। इस तरह यह निषेध रूप व्यङ्ग्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय है। (ग) ध्वनिवादी के अनुसार इसका उत्तर है कि वाक्यार्थ भी तृतीय कक्षा का विषय है, 'ननु' से प्रश्न करके इसी का खण्डन 'तन्न' से आगे किया जा रहा है—

यद्यपि 'चाहे विष खालो, पर इसके घर मत खाना' [=विषं भुङ्क्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'] इत्यादि वाक्य में [विधि रूप प्रयुक्त] पदार्थ का [निषेध रूप] तात्पर्य शब्दतः श्रूयमाण नहीं है। 'विष खालो' आदि वाक्य का तात्पर्य ['शत्रु के घर कभी न खाना' आदि] निषेधार्थ रूप है। वहाँ वाक्यार्थ की तृतीय कक्षा है ही; और इस स्थल में व्यञ्जनावादी को भी 'निषेधार्थ प्रतीति' रूप वाक्यार्थ मानना ही पड़ेगा, क्योंकि

नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वनेः। तत्र स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात्। सैव निषेधकक्षा। तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः। प्रकरणात् पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात्।

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात्। तदुक्तम्—

तात्पर्य से ध्वनि सर्वथा भिन्न है [अतः यह 'निषेधार्थ प्रतीति' ध्वनि का विषय नहीं हो सकती]—इस प्रकार का ध्वनिवादियों का—

यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि जब तक द्वितीय कक्षा में वाक्य के अर्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती तब तक तृतीय-कक्षा होती ही नहीं। अतः यहाँ निषेधार्थ द्योतक वही [द्वितीय] कक्षा है। 'विषं भुंक्ष्व' आदि वाक्य में द्वितीय कक्षा में ['विष खालो' यह] विधिरूप अर्थ लेने पर क्रिया एवं कारक का परस्पर संसर्ग अर्थात् अन्वय नहीं हो पाता अर्थात् अभिधावृत्ति से प्राप्त वाक्यार्थ से जिज्ञासा शान्त नहीं होती [अतः जब तक स्वार्थ में वाक्यार्थ विश्रान्त न हो। तब तक द्वितीय कक्षा ही चलती रहती है] क्योंकि प्रकरण के अनुसार इस वाक्य का वक्ता पिता है जो अपने पुत्र को विष खा लेने का आदेश [=नियोग] कभी भी नहीं दे सकता।

परिष्कार—[क] इस प्रकार 'विषं भुंक्ष्व' आदि वाक्य का अर्थ द्वितीय कक्षा में विश्रान्त नहीं होता है; अपितु 'उस शत्रु के घर भोजन न करना' इस निषेधार्थ रूप तात्पर्यार्थ पर जाकर विश्रान्त होता है। अतः निषेधार्थ की प्रतीति द्वितीय कक्षाविषयक ही है। इसलिए द्वितीय कक्षा के परिसमाप्त हुए बिना ही इस निषेधरूप अर्थ में तृतीय कक्षा मानना अनुचित है। वहाँ तृतीय कक्षा है ही नहीं। इसका ज्ञान हमें प्रकरण से होता है। यह वाक्य पिता ने पुत्र से कहा है; जो यह कभी नहीं चाहेगा कि उसका पुत्र विष खाए। अतः 'भुंक्ष्व' क्रिया के साथ 'त्वं' कर्ता के कर्म 'विषं' के कारकों का ठीक अन्वय नहीं बैठता है; क्योंकि पुत्र के प्रति पिता का 'सचमुच ही विष खाने' का आदेश नहीं है। अपितु 'शत्रु के घर न खाने' का निषेधार्थ रूप तात्पर्य है। अतः सम्पूर्ण अर्थ द्वितीय कक्षा का विषय है। [ख] धनञ्जय एवं धनिक रस व अलंकार आदि की प्रतीति को वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। जिसका स्थापन ३७ वीं कारिका में किया गया है पूर्वपक्ष के रूप में ३७ वीं कारिका के पहले धनिक ने ध्वनिकार के मत को रक्खा है और साथ साथ उसका खण्डन भी करते गए हैं।

किन्तु सरस वाक्यों में [=रसवद्वाक्येषु] विभाव, अनुभाव अथवा सञ्चारीभाव का बोध द्वितीय कक्षा में होता है जब कि विभावादि ज्ञान वाली उस कक्षा में रस की प्रतीति नहीं हो पाती [क्योंकि विभावादि रस प्रतीति के साधन हैं अतः रस की प्रतीति तो विभाव आदि के बाद तृतीय कक्षा में होती है]। जैसा कि कहा भी है—

'अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ॥
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम् ।
तत्प्रसर्पति तत्र स्यात् सर्वत्र ध्वनिनां स्थितिः ॥'

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद्व्यङ्ग्यत्वम् । तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिः, अन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् । तदुक्तम्—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ [ध्वन्या० १.१३]
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ [ध्वन्या० २.५]

यथा—'उपोढरागेण' इत्यादि ।

जबतक वाक्य अपने अर्थ पर परिसमाप्त न हो जाय [अविश्रान्तं] तथा पूरी तरह ठीक न बैठ जाय [अप्रतिष्ठितं] उस वाक्य का उसी [परिसमाप्त होने वाले] अर्थ में तात्पर्य मानना न्यायसंगत है । किन्तु जब वाक्य अपने अर्थ में विश्रान्त हो जाता है एवं ठीक तरह से बैठ भी जाता है और फिर वाक्यार्थ उससे आगे जिस किसी भी अर्थ में पहुँचता है तो उस [अग्रिम अर्थ] की प्रतिष्ठा ध्वनि के द्वारा ही होती है, यही सिद्धान्त है । [अर्थात् वह अग्रिम अर्थ ही व्यङ्ग्य होता है क्योंकि वाक्यार्थ का स्वार्थ में पर्यवसान तो पहले ही हो चुकता है] ।

इस प्रकार सभी स्थलों में रस सर्वथा व्यङ्ग्य ही होते हैं जबकि वस्तु और अलंकार तो कहीं वाच्य और कहीं व्यङ्ग्य भी होते हैं । [इस स्थिति में सभी व्यङ्ग्य ध्वनि नहीं कहे जा सकते, प्रत्युत वहाँ [रस आदि के व्यङ्ग्य-स्थल पर] भी जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधान रूप से प्रतीति होती है वहीं 'ध्वनि' होती है । अन्य स्थलों में [अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर गौण हो जाता है] वह गुणीभूतव्यंग्य हो जाता है । जैसाकि [आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में] कहा भी है—

'जहाँ अर्थ अपने को [स्व] अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस [प्रतीयमान] अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग 'ध्वनि' कहते हैं ॥ ध्वन्या० १.१३ ॥

जहाँ अन्य [अर्थात् अङ्गभूत रसादि से भिन्न, रस या वस्तु अथवा अलङ्कार] प्रधान वाक्यार्थ हो, और उसमें रसादि [रस, भाव, तदाभास एवं भावशान्त्यादि] अङ्ग हों, उस काव्य में रसादि अलङ्कार [रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित] होते हैं यह मेरी [= आनन्दवर्धन की] सम्मति है ॥ ध्वन्या० २.५ ॥

जैसे 'उपोढरागेण' इत्यादि पाणिनि के श्लोक में [व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अङ्ग हो गया है किन्तु प्रधानता वाच्यार्थ की ही है । अतः यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य है]

तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् । अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असंलक्षितक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः । तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्राधान्यप्रतीतौ सत्याम् अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति ।

परिष्कार— ध्वनिकार के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर 'ध्वनि' के तीन भेद हैं—१. ध्वनि [उत्तम काव्य] २. गुणीभूतव्यङ्ग्य [मध्यम काव्य] ३. चित्र [अधम काव्य] इनमें से गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण इस प्रकार है—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

'सन्ध्याकालीन अरुणिमा को धारण किए हुए [अथवा प्रेमोन्मत्त] शशी [अथवा नायक] ने निशा [अथवा नायिका] के चञ्चल तारों से युक्त [तारक नक्षत्र, अथवा नायिका के चञ्चल कनीनिका वाले] मुख [= प्रदोषकाल] को [चुम्बन करने के लिए] इस प्रकार ग्रहण किया कि राग [सन्ध्याकालीन अरुणिमा अथवा नायक के स्पर्श से समुद्भूत अनुरागातिशय] के कारण सारा तिमिर रूप वस्त्र गिर जाने पर भी उस [निशा अथवा नायिका] को दिखलायी नहीं दिया ।'

प्रस्तुत स्थल में 'चन्द्रमा का वर्णन' वाच्यार्थ है जबकि व्यङ्ग्य से नायक एवं नायिका के काम-व्यवहारों की प्रतीति हो रही है । अतः यहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता के कारण व्यङ्ग्यार्थ गौण हो जाने से यह गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

और, उस [ध्वनि] के दो भेद हैं—१. विवक्षितवाच्य, एवं २. अविवक्षितवाच्य । **अविवक्षितवाच्य** [ध्वनि] के भी दो प्रकार हैं—(i) अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य, और (ii) अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य । **विवक्षित-वाच्य** [ध्वनि] के भी दो प्रकार हैं—(क) असंलक्ष्य क्रम [ध्वनि] और (ख) संलक्ष्यक्रम [ध्वनि] । वहाँ जब रस आदि की प्रतीति प्रधान रूप से होती है तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है; किन्तु जब रसादि की किसी वाच्य अथवा व्यङ्ग्यार्थ के अंग-रूप में प्रतीति होती है तो रसवद् अलंकार होता है ।

परिष्कार—सामान्य रूप से ध्वनि के अट्ठारह भेद माने जाते हैं । इनमें भी प्रथमतः लक्षणा और अभिधा के आधार पर दो भेद प्रस्तुत किए गए हैं । इनका विशेष विवेचन ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश आदि लक्षण ग्रन्थों में देखना चाहिए । उपर्युक्त ध्वनि भेदों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

लक्षणा पर आधृत ध्वनि के भेद—

१. **अविवक्षित-वाच्य**—ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ में होकर व्यङ्ग्यार्थ में हो । इसे लक्षणामूलक-ध्वनि भी कहते हैं ।

लक्षण-लक्षणा और उपादान-लक्षणा रूप लक्षणा के दो भेद पर आधृत **अविवक्षित-**

अत्रोच्यते—

वाच्य ध्वनि के दो भेद इस प्रकार हैं—

(i) **अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य**—जहाँ वाच्यार्थ पूर्णतः तिरस्कृत हो जाय वहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होती है, जैसे—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥

प्रस्तुत श्लोक में अनेक अपकारों से पीड़ित किसी व्यक्ति की अपकारी-व्यक्ति के प्रति उक्ति है—'हे मित्र ! आपने बड़ी सज्जनता दिखाई है । सदा इसी तरह उपकार करते हुए आप सैकड़ों वर्ष तक संसार में सुखी रहें ।' यहाँ वाच्यार्थ है 'आपने उपकार किया' किन्तु लक्ष्यार्थ है कि 'आप सुजन नहीं दुर्जन है कि आपने बड़े बड़े अपकार किए हैं । इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ के पूर्णतः तिरस्कृत हो जाने के कारण अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि है ।

(ii) **अर्थान्तर संक्रमित वाच्य**—जहाँ वाच्यार्थ अपने रूप में न रहकर अपने से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ में बदल जाय अर्थात् अपने अर्थ का त्याग न करते हुए ही अन्य अर्थ में उसका संक्रमित हो जाना अर्थान्तर-संक्रामित वाच्य होता है । जैसे—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥

'मैं तुम्हें यह कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय उपस्थित है अतः अपनी बुद्धि को ठीक करके व्यवहार करना ।' यहाँ पर 'कहता हूँ' यह कथन व्यर्थ हो जाता है । यहाँ अन्य लक्ष्य अर्थ है कि 'मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ' ।

अभिधा पर आधृत ध्वनि—

२. **विवक्षित-वाच्य**—जहाँ अभिधा द्वारा प्रतीत होने वाला वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति कराता है वहाँ विवक्षितवाच्य-ध्वनि होती है; अर्थात् इसमें वाच्यार्थ ही विवक्षित होता है जो अन्य रमणीय अर्थ की प्रतीति कराने में तत्पर हो जाता है, अतः इसे 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि भी कहते हैं । यह दो प्रकार की है—

(i) संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—जहाँ वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम स्पष्टतः लक्षित होता है वहाँ 'संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' होता है ।

(ii) असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—इसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित नहीं होता है ।

धनञ्जय का सिद्धान्त—

इस विषय में [अर्थात् ध्वनिवादियों के अनुसार जो रस की प्रतीति को व्यङ्ग्य मानते हुए उसे व्यञ्जनाशक्ति से प्रतिपादित मानते हैं—इस पूर्वपक्ष के खण्डन में दशरूपककार] कहते हैं—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥ ३७ ॥

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिष्वश्रूयमाणक्रियेषु च—'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् वा बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थः, तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् क्वचित् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' [नागा० ३.४] इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभि-स्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परां प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः ।

वाक्य में जैसे क्रिया चाहे वाच्य हो या प्रकरण आदि के द्वारा बुद्धिस्थ हो, कारकों से अन्वित होकर वही वाक्य का वाक्यार्थ होता है [अर्थात् वाक्य में कभी-कभी जैसे क्रिया के साक्षात् वाचक शब्द के उपात्त न होने पर भी हम प्रकरणानुकूल बुद्धिस्थ क्रिया का अध्याहार कर ही लेते हैं] ठीक उसी प्रकार हमें विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी से युक्त स्थायीभाव काव्य के रत्यादि वाक्यार्थ [तात्पर्य] के रूप में प्रतीत होते हैं [अर्थात् स्थायीभाव भी वाक्य में बुद्धिस्थ क्रिया की भाँति ही वाच्य न होकर प्रकरणसंवेद्य है] ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार 'गामभ्याज' [=गाय लाओ] आदि लौकिक वाक्यों में [अभ्याज] क्रिया स्ववाचक पद से श्रूयमाण है तथा 'द्वारं-द्वारं' [=द्वार को-द्वार को] इत्यादि वाक्य में प्रकरण आदि [अर्थात् श्रोता, वक्ता देश-काल] वशात् बुद्धिस्थ [अश्रूयमाण अर्थात् 'पिधेहि=बन्द करो' अध्याहरित] क्रिया ही कारकों से संसृष्ट होकर वाक्यार्थ बनती है, ठीक उसी प्रकार काव्यों में भी कहीं तो [रत्यादिभाव के] स्व वाचक पद का साक्षात् प्रयोग होता है; जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' [इत्यादि 'नागानन्द' नाटक में रति भाव के वाचक पद 'प्रीति' का साक्षात् उपादान किया गया है]; और कहीं तो प्रकरण आदि के आधार पर या काव्य में वर्णित किन्ही रस के साथ नियत रूप से अभिधा के द्वारा प्रतिपादित विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव के साथ नित्य सम्बन्ध [=अविनाभाव] होने के कारण भावक [=सहृदय] के चित्त में साक्षात् स्फुरित होता हुआ रत्यादि स्थायीभाव ही अपने-अपने उन विभावादिकों से, जो उनके अभिधायक शब्दों द्वारा आवेदित किये गये हैं, संस्कार-परम्परा से परिपुष्ट होता हुआ [काव्य में] वाक्यार्थ होता है ।

परिष्कार—(क) धनञ्जय एवं धनिक के अनुसार काव्य में रत्यादि भाव या रस वाक्यार्थ ही होते हैं । उनकी प्रतीति के लिए हमें व्यञ्जना शक्ति को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । कारकों से अन्वित होकर क्रिया वाक्य का अर्थ होती है । वाक्यार्थ में क्रिया की प्रधानता को मीमांसक भी स्वीकार करते हैं । प्रकरण आदि के द्वारा क्रिया के बोध का दो उदाहरण देकर इसे वृत्तिकार ने समझा दिया है । पहले

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्, कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्यशक्तेः। तथा हि–पौरुषेयमपौरुषेयं वा वाक्यं सर्वं कार्यपरम्। अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत्। काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेना-

हमें पदों का बोध होता है। फिर पदों से अन्वित क्रिया का अर्थ बोधित होता है; और यही वाक्यार्थ है। इसी प्रकार काव्य में भी रत्यादि भाव के बोध के लिए दो अवस्थाएँ होती हैं। कहीं स्ववाचक पद से उपादान होता है। कहीं स्ववाचक पद के बिना भी प्रकरणादिवशात् संनिहित विभावादि का उपादान भावक के चित्त में विपरिवर्तमान स्थायीभाव अपने-अपने विभावादि के संयोग से प्रकृष्ट प्रौढ़ि को प्राप्त होता हुआ वाक्यर्थ होता है। (ख) प्रौढ़ि अर्थात् गमन प्रकार का कथन अर्थात् संस्कार-परम्परा से प्राप्त। विभावों के द्वारा किन्हीं संस्कार का उपनयन होता है। यह कुछ अनुभाव के द्वारा होता है, कुछ सात्त्विकभाव के द्वारा और कुछ व्यभिचारीभाव के द्वारा। यही परम्परा है। (ग) **प्रश्न**—है कि दूसरे पदार्थों से विशिष्ट कोई पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है तो रस किस पद का अर्थ है जिससे वाक्यार्थ होता है? इसी का उत्तर देते हुए कहते हैं कि—

यहाँ पर यह प्रश्न भी नहीं उठाना चाहिए कि जो पदार्थ नहीं है वह वाक्यार्थ कैसे बन सकता है? [अर्थात् पदों के अर्थ को मिलाकर ही वाक्यार्थ बनता है; तब जो रति इत्यादि स्थायीभाव शब्द का अर्थ नहीं है। वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर है] क्योंकि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान सदा कार्य में होता है। [अर्थात् जैसे अभिधा का पर्यवसान वाक्यार्थ में और लक्षणा का लक्ष्यार्थ में होता है, उसी प्रकार तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान वक्ता के कार्य में होता है] उदाहरणार्थ—चाहे कोई वाक्य पौरुषेय [लौकिक] हो, चाहे अपौरुषेय [वैदिक] हो, सभी वाक्य कार्य-परक [किसी न किसी [उद्देश्य से युक्त] होते हैं। यदि वाक्यों को कार्यपरक [उद्देश्य युक्त] न माना जावे तो उन वाक्यों का प्रयोग ही व्यर्थ हो जायगा और वे वाक्य पागलों की बकवास-मात्र ही समझे जायँगे।

काव्य में शब्दों की प्रवृत्ति का विषय विभावादि स्थायीभाव और रस रत्यादि ही होते हैं। अतः विभाव आदि प्रतिपादक होते हैं और रस आदि प्रतिपाद्य होते हैं। इस प्रकार काव्य के शब्दों का विभावादि रूप अर्थ से अन्वय-व्यतिरेक रूप सम्बन्ध है [एक वस्तु के होने पर, दूसरी वस्तु का होना=अन्वय है और एक के न रहने पर दूसरे का भी न रहना=व्यतिरेक है] काव्य में प्रयुक्त वाक्य का इससे भिन्न कोई और प्रयोजन न उपलब्ध होने के कारण अन्वय-व्यतिरेक से जिस कार्य के प्रति कारणता देखी जाती है वह निरतिशय सुखास्वाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है; अतः काव्य में शब्दों का प्रयोजन सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति कराना ही है; इसीलिए आनन्दोद्भूति को ही काव्य

वधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते। अतो वाक्यस्याभिधाशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः। विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेः, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः।

ईदृशे च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः

के कार्य के रूप में अवधारित किया गया है; और उस आनन्दोद्भूति का निमित्त विभावादि के संसर्ग से युक्त स्थायीभाव ही अवगत होता है। अतः [काव्य में प्रयुक्त] वाक्य की अभिधान शक्ति [तात्पर्य] भिन्न-भिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन वाक्यार्थ रूप रसों के स्वार्थ की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अवान्तर विभाव इत्यादि का प्रतिपादन करती है; जिनका पर्यवसान रस में हुआ करता है। उस [वाक्यार्थविगम की प्रक्रिया] में विभावादि तो पदार्थस्थानीय होते हैं और उनसे संसृष्ट रत्यादि भाव वाक्यार्थ होता है। यह ऐसा 'काव्य-वाक्य' ही है जिनके ये [विभावादि] पदार्थ हैं और [रत्यादि स्थायीभाव] वाक्यार्थ हैं।

यहाँ यह **प्रश्न** उठता है कि जिस प्रकार [अर्थ के बिना जाने ही] गीत आदि के आनन्द के जनक होने पर भी वहाँ वाच्य-वाचक-भाव का कोई उपयोग नहीं होता; उसी प्रकार काव्य-वाक्यों से उत्पन्न रसादि का भी काव्य-वाक्यों से वाच्यवाचकभाव का कोई उपयोग नहीं है। उसका **उत्तर** यही है कि काव्यानन्द की अनुभूति उन्हीं सहृदयों को होती है जो विभावादि विशेष सामग्री को भी जानते हैं और उस रस के योग्य भावना भी उनके अन्तःकरण में विद्यमान होती है। [अर्थात् बिना वाच्यवाचकभाव का ज्ञान हुए विभाव इत्यादि सामग्री का परिज्ञान हो ही नहीं सकता। अतः रसानुभूति में वाच्यवाचकभाव के ज्ञान का यही उपयोग है]। इस प्रकार इस कथन से ही अति प्रसङ्ग का भी निवारण हो जाता है। [अर्थात् विभावादि के ज्ञान से रहित तथा रत्यादि भावों की भावना से शून्य अरसिकजनों को भी काव्य से वाच्यवाचकभाव के द्वारा रसानुभूति होने लगेगी इस अतिप्रसङ्ग का निराकरण भी उपर्युक्त कथन से हो जाता है]।

इस प्रकार के वाक्यार्थ का निरूपण हो जाने पर अबतक के आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत अभिधा आदि [अर्थात् तात्पर्य और लक्षणा] शक्ति के द्वारा ही [श्रूयमाण या अश्रूयमाण रूप] सब प्रकार के वाक्यार्थ का बोध हो जाने से [रस आदि की प्रतीति के

शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः । यथावोचाम **काव्यनिर्णये**—

'तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १ ॥
विषं भक्षय पूर्वं यश्चैवं परसुतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २ ॥
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३ ॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४ ॥
भ्रमधार्मिकविश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥

लिए व्यञ्जना नामक] शक्त्यन्तर की पृथक् से कल्पना करना एक व्यर्थ का प्रयास है। जैसा कि हमने [इन्हीं सब बातों को] 'काव्यनिर्णय' में इस प्रकार बतलाया है—

'काव्य में प्रतीयमान-व्यञ्जनीय-अर्थ तात्पर्यरूप अर्थ से अलग नहीं होता। अतः उसे हम 'ध्वनि' नहीं कह सकते।'

[यहाँ पर ध्वनिवादी का प्रश्न है कि] 'यदि ध्वनि नहीं होती तो आप उस अन्योक्ति रूप वाक्य के विषय में क्या कहेंगे जहाँ वाच्य का तात्पर्य शब्द से निवेदित नहीं है ॥ १ ॥

'विष खा लो' आदि पिता द्वारा पुत्र के प्रति कहे गए वाक्य से प्रतीयमान 'शत्रु के घर न खाना' इस दूसरे अर्थ की प्रधानता के कारण प्रसज्यमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है ? ॥ २ ॥

'वाक्य अपने संसर्गार्थ में विश्रान्ति के बाद भी जब कुछ अन्य अर्थ व्यञ्जित करता है तभी यदि ध्वनि होती है, और वाक्य के अर्थ की अविश्रान्ति ही तात्पर्य होती है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ विश्रान्ति का अभाव होता है ॥ ३ ॥

'क्योंकि एतावन्मात्र ही तात्पर्य का पर्यवसान हो जाता है यह किसने नियम बनाया है ? तात्पर्यवृत्ति को तराजू पर तौलकर किसी नियत स्थान तक सीमित नहीं किया जा सकता। उसकी गति तब-तक अक्षुण्ण रहती है जब-तक वाक्य-प्रयोग का पूरा प्रयोजन सिद्ध न हो जाय। अर्थात् सिद्धान्त यही है कि तात्पर्यवृत्ति यावत्-कार्य पर्यवसायी होती है अर्थात् जब तक अभिप्रेत अर्थ नहीं मिलता तबतक वाच्य का अर्थ समाप्त नहीं होता' ॥ ४ ॥

ध्वनिवादी का **प्रश्न** है कि '**भ्रम धार्मिक विश्रब्धः**' आदि वाक्य में जहाँ भ्रमण का विधान है, और भ्रमण के बाधक तत्त्व का शब्द से निर्देश नहीं किया गया है वहाँ उसकी ही निषेध तक प्रवृति कैसे मान ली जाय ? ॥ ५ ॥

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥ ६ ॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ ॥ इति ।
[काव्यनिर्णयस्य]

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि ? भाव्यभावकसम्बन्धः । काव्यं हि भावकं, भाव्यास्तु रसादयः । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते ।

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा

[ध्वनिविरोधी का **उत्तर**—'भ्रम धार्मिक' आदि वाक्य में श्रोता की आकाङ्क्षा तो विधिपरक अर्थ से यदि पूर्ण हो गई तो वक्ता के तात्पर्य की पूर्ति तो नहीं हुई। अतः] यदि प्रतिपाद्य [=तात्पर्य] की अपेक्षा पूर्ति से वाक्यार्थ की विश्रान्ति [ध्वनिवादियों के द्वारा मानी जाती है तो वक्ता की विवक्षा के पूर्ण न होने से यहाँ तात्पर्य की अविश्रान्ति क्यों नहीं मानी जा सकती ? ॥ ६ ॥

[वैदिक और लौकिक वाक्यों में] पुरुष-प्रणीत काव्य आदि के [लौकिक] वाक्य वक्ता की कथनेच्छा के अधीन होते हैं; [अर्थात् पौरुषेय वाक्य किसी न किसी सामान्य विवक्षा से उच्चरित होते हैं] अतः वक्ता का सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ काव्य का तात्पर्य ही कहा जायगा [और जब तक अभिप्रेत अर्थ की पूर्ति न होगी तब तक वाक्यार्थ की विश्रान्ति न होगी; क्योंकि जब वाक्य विश्रान्त हो जाएगा तो फिर वह अन्य अर्थ देगा ही क्यों ? और फिर भी यदि अन्य अर्थ का प्रत्यायन करता है तो यह स्पष्ट है कि अभी वह विश्रान्त नहीं हुआ है ॥ ७ ॥

धनिक के मत का उपसंहार—

अतः रस आदि का काव्य के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं है; तो फिर कौन सा सम्बन्ध है ? इनका आपस में भाव्य-भावक सम्बन्ध है। काव्य भावक होता है [अर्थात् रस आदि का आस्वादन कराने वाला होता है] और रस आदि तो भाव्य [अर्थात् आस्वादन कराये जाने वाले] होते हैं। रसिक जनों में वे रस स्वभावतः होते हैं। मात्र विभिन्न रसों के विशेष प्रकार के विभावादि से युक्त काव्य के द्वारा वे भावित किए जाते हैं।

इस पर पूर्वपक्षी की **शङ्का** है कि 'कहीं अन्यत्र किसी दूसरे शब्दों तथा उनके अर्थों में भाव्यभावक रूप सम्बन्ध न होने के कारण काव्य के शब्द भी इतर शब्दों की ही तरह हैं। अतः काव्य तथा उनके अर्थ रसादि में भी भाव्य-भावक रूप सम्बन्ध का

भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चान्यत्र तथास्तु । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात् । तदुक्तम्—

[1]भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ।।' [ना० शा० ७.३]

अभाव ही होना चाहिए'—इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है; क्योंकि ['भावना' के रूप में क्रिया को मानने वाले] भावनावादी[2] [मीमांसकों] ने अन्यत्र अर्थात् 'स्वर्गकामो यजेत' आदि उदाहरण में भाव्य-भावक रूप सम्बन्ध माना ही है । दूसरी बात यह है कि अन्यत्र भले ही भाव्य-भावक सम्बन्ध न हो किन्तु काव्य में तो यह सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक से अवगत ही होता है [अर्थात् काव्य में रसादि के भावक पदों का प्रयोग न होगा तो किसी भी तरह रस की भावना अर्थात् चर्वणा न हो सकेगी और उसके होने पर रसिकजनों के हृदय में रसादि अवश्य भावित होंगे—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक सरणि से काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध का अवगमन हो जाता है] । जैसा कि ['नाट्य-शास्त्र' ७.३ में भी] कहा गया है—

'क्योंकि, ये [रंगशाला में अनुकार्यगत सुख-दुःखादि] भावाभिनयों से युक्त रसों का इन सामाजिकों को भावन कराते हैं अतएव इन्हें नाट्य के प्रयोक्ता-लोग 'भाव' कहते हैं ।'

परिष्कार—यहाँ पर 'अभिनवभारती' इस प्रकार है—'क्योंकि ये भाव आस्वादन के योग्य-चित्तवृत्ति-विशेष को भावित करते है, ले जाते हैं, प्रतीत करवाते हैं अथवा बुद्धि-गोचर करवाते है अतः इन्हें 'भाव' कहते हैं । 'इमान्' का अर्थ है सामाजिकों को । यहाँ 'अभिनय सहितान्' के द्वारा यह दर्शाया गया है कि अभिनय भी सामाजिकों को बुद्धि-गोचर करवाया जाता है ।

---

१. 'नानाभिनय०' इति वा पाठः (ना० शा० ७.३) ।

२. मीमांसकों के अनुसार क्रिया का अर्थ 'भावना' है जो दो प्रकार की होती है—१. शाब्दी-भावना और २. आर्थी-भावना । किसी व्यक्ति को क्रिया में प्रवृत्त कराने वाला विशेष प्रकार का व्यापार, जो वक्ता का अभिप्राय रूप व्यापार होता है, एवं शब्दों में लिङ् लकार आदि के द्वारा जो प्रकट होता है उसे 'शाब्दी-भावना' कहते हैं । किसी क्रिया में प्रवृत्त होकर जब कर्ता फल की इच्छा से उसके साधनों को जुटाता है तो कर्ता के इसी प्रयत्न को 'आर्थी-भावना' कहते हैं, जो आख्यात अर्थात् तिङ् का अर्थ होती है । जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' में याग-क्रिया भावक है और स्वर्ग भाव्य है अर्थात् 'स्वर्ग की कामना वाला याग से स्वर्ग को भावित करे ।' अतः भाव्य-भावक सम्बन्ध अन्य शास्त्रानुमोदित है ।

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविध चेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूत-चेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः ।

रसः स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात् काव्यस्यातत्परत्वतः ॥ ३८ ॥
द्रष्टुः प्रतीतिव्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।

अब प्रश्न यह उठता है कि [जब सभी शब्द अपने संकेतित अर्थ के बोधक होते हैं तभी अभिधा व्यापार काम करता है] किन्तु काव्य में प्रयुक्त शब्दों का रति आदि स्थायीभावों के साथ संकेत-ग्रह न होने के कारण उन शब्दों से स्थायीभावों का बोध कैसे होगा ? यदि इस प्रकार प्रश्न हो तो उत्तर यह है कि लोक में रत्यादि के कारण होने वाली विशेष प्रकार की अनुरागपूर्ण चेष्टाओं से युक्त स्त्री-पुरुषों में उन-उन चेष्टाओं का रत्यादि स्थायीभावों के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध अर्थात् कभी न टूटने वाला सम्बन्ध देखा जाता है । ठीक वैसे ही उपनिबद्ध-काव्य में भी रत्यादि भावों के नित्य-बोधक चेष्टाओं के प्रतिपादक काव्योपात्त शब्दों के सुनने से अभिधेय चेष्टादि से सम्बद्ध अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा रत्यादि की प्रतीति लाक्षणिक होती है [अर्थात् 'अभिधेयाविनाभूत' होने के कारण यह प्रतीति -लक्षणागम्य होती है अतः काव्यार्थ एवं रस का भाव्यभावक सम्बन्ध है] । जैसा कि इसी ग्रन्थ में आगे चलकर यह बतलाया जायेगा कि काव्य का अर्थ रस की भावना [रसिकों में] कैसे कराता है ।

रस और उसका आश्रय

वह [काव्य में वर्णित विभावादि से उद्भावित रत्यादि स्थायीभाव] ही रस होता है; क्योंकि उसका आस्वादन किया जाता है [=रस्यते स्वाद्यते इति रसः अर्थात् रस उसे कहते हैं जिसका आस्वादन किया जाता है] । यह [=रस] रसिक के ही अन्तःकरण में रहता है; क्योंकि [रस-प्रतीति के समय] वही विद्यमान रहता है । [रस की यह प्रतीति] अनुकार्य [राम, दुष्यन्त आदि] के हृदय में नहीं होती; क्योंकि वे तो अतीत काल में थे । [काव्य रूप नाटक के समय में नहीं], और काव्य-नाटक आदि उन [अनुकार्य राम आदि] के रसास्वादन के लिए लिखे भी नहीं जाते ॥ ३८ ॥

[अनुकार्य राम आदि में यदि रस की स्थिति मान भी ली जाये तो] जिस प्रकार किसी लौकिक व्यक्ति को उसकी रमणी के साथ देखकर देखने वाले को [इसमें रति भाव है इस प्रकार की] प्रतीति मात्र होती है; अथवा लज्जा, ईर्ष्या, राग-द्वेष इत्यादि उत्पन्न

लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥ ३९ ॥

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायी भावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते, स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसः, रसिकवर्तीति[1] वर्तमानत्वात्, नानुकार्य-रामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य ।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव, तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समतैकाऽऽस्वादं प्रति, विभावत्वेन तु रामादेर्वर्त-मानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम् । स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव ।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात् ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके

होते हैं । उसी प्रकार काव्य में भी होगा [अर्थात् उसी प्रकार अभिनय के दर्शक या काव्य के श्रोता अथवा पाठक को 'इसमें रति-भाव है' यह प्रतीति भर होगी । उसे रसास्वादन नहीं होगा; अथवा देखने वाले के हृदय में उसे देखकर लज्जा, ईर्ष्या एवं राग-द्वेष आदि होने लगेंगे ॥ ३९ ॥

कारिका में प्रयुक्त 'स' इस सर्वनाम पद से काव्यार्थ से उद्भावित रसिकनिष्ठ रत्यादि रूप स्थायीभाव का परामर्श किया गया है; और वह आनन्दात्मक ज्ञान रूप आस्वाद वाला रस रसिकवर्ती इसलिए है कि उस स्थिति में अर्थात् स्वाद्यत्व-प्रतीति काल में रसिक ही वहाँ वर्तमान है, अनुकार्य राम आदि से उस रस का सम्बन्ध इसलिए नहीं है कि वह उस समय हैं ही नहीं ।

यद्यपि यह ठीक है कि वह अनुकार्य राम आदि अविद्यमान होकर भी शब्दों[2] के माध्यम से वर्तमान की भाँति जान पड़ते हैं; तथापि हम रसिकजनों को ही उनका विद्यमान के समान आभास होता है; वस्तुतः रसास्वादन के लिए तो वे अविद्यमान ही रहते हैं । फिर विभाव रूप में अनुकार्य राम आदि की विद्यमान के समान प्रतीति तो अभीष्ट ही है । इसके अतिरिक्त कवियों ने राम आदि के रसास्वादन के लिए काव्य का निर्माण नहीं किया है; अपितु रसिकजनों को आनन्दित करने के लिए ही उसकी रचना की है । फिर वह रस समस्त सहृदयजनों के द्वारा उनकी अपनी अनुभूति का ही विषय होता है ।

[अनुकार्यगत रस न मानने का दूसरा कारण यह है कि] यदि यह मान भी लिया जाय कि शृङ्गार-रस आदि की प्रतीति अनुकार्य राम आदि को होती है तो अभिनयादि के दर्शकों को वैसे ही कोई भी रसास्वाद न होगा, जैसे किसी लौकिक नायक को

१. तुल० दश० ४.१ वृत्ति ।

२. भर्तृहरि के अनुसार शब्दों से ही इनके रूपों का उपाधान होता है; अतएव वर्तमान न होते हुए भी राम आदि का वर्तमान रूप में होना अभीष्ट ही है, इसी प्रश्न का उत्तर तथापि से दिया जा रहा है ।

शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन् ।

एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते । प्रदीपेनेव घटादि, न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम् । भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव ।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः ? कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेना-ऽविरोधः ? उच्यते—

अपनी रमणी से युक्त देखकर दर्शकों को केवल इतनी ही प्रतीति होती है कि 'वह युवक शृङ्गार से युक्त है' और [रसास्वाद की बात तो दूर है] सत्पुरुषों को तो इसमें लज्जा का अनुभव होगा । [क्योंकि वे शृङ्गारी चेष्टा को देखने के आदी नहीं होते] अथवा अन्य जन को ईर्ष्या होगी और यदि दर्शक विलासी हुआ तो उसे अनुराग होगा अथवा दर्शक दुष्ट हुआ तो उसके अपहरण आदि की कामना की प्रसक्ति भी होने लगेगी ।

['काव्य के द्वारा रसिक के हृदय में भावित रत्यादि भाव ही रस हैं']—ऐसा सिद्ध हो जाने पर रस आदि के व्यङ्ग्यत्व के मत का भी निराकरण हो जाता है अर्थात् रस व्यङ्ग्य नही हो सकता; क्योंकि व्यङ्ग्य वही वस्तु होती है जिसकी सत्ता अभिव्यञ्जक से पूर्व स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हो; जैसे प्रदीप उसी घर का अभिव्यञ्जक होता है जो पहले से ही स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहता है; और ऐसा तो अस्वाभाविक ही है कि अभिव्यञ्जक मानी जाने वाली वस्तुएँ अभिव्यक्त होने वाली वस्तुओं को स्वयं बनाकर प्रकाशित करें । [इस प्रकार रसादि पहले से विद्यमान होते तो उनके अभिव्यञ्जक विभावादि अथवा काव्योपात्त शब्दादि उनकी व्यञ्जना करा सकते थे । अतः रस आदि की पूर्व सत्ता न होने पर व्यञ्जनवादी उन्हें व्यङ्ग्य नहीं कह सकते] अतएव यह कहना ही पड़ेगा कि प्रेक्षकों में विभाव आदि के द्वारा रस की भावना [=चर्वणा अथवा आस्वाद] उत्पन्न किया जाता है ।

सामाजिकों में रस की स्थिति मानने पर यह **प्रश्न** उठना स्वाभाविक ही है कि सामाजिकों में होने वाले रस का विभाव कौन है ? और, सीता आदि पूज्य देवियों को शृङ्गारादि का आलम्बन विभाव मानने में अविरोध कैसे स्थापित होगा ? अर्थात् सीता -जैसी देवियों [जगन्माताओं] के प्रति एक साधारण व्यक्ति की रति भावना हो ही कैसे सकती है ? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर निम्न कारिका में दिया जा रहा है—

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥ ४० ॥

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि? सर्वलोकसाधारणा स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदाताद्यवस्थाः [तन्निबद्धाः] क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः (वि)दधति।

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः।

किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत्? उच्यते—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ॥ ४१ ॥

[नाटकादि में वर्णित अनुकार्य] राम आदि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्थाओं को दिखलाने वाले होते हैं। वे [रामादि] रत्यादि स्थायीभावों को [सामाजिकों के चित्त में] विभावित करते हैं। जिससे अंकुरित हुए रत्यादि स्थायीभाव ही रसिकजनों के द्वारा आस्वादित किए जाते हैं ॥ ४० ॥

कवि योगियों के समान ध्यान मुद्रा से ध्यान करके ज्ञानचक्षु के द्वारा इतिहास पुराण में ठीक जैसा उपनिबद्ध है वैसा हीं रामादि के अतीतगत चरित्र का प्रत्यक्ष करके उनकी यथार्थ अवस्था का उपनिबन्धन नहीं करते। तो फिर कवि कैसा वर्णन करते हैं? [उत्तर है कि] वे ऐसी धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का उपनिबन्धन करते हैं जो सर्वलोक-साधारण होती है। वे अपनी कल्पना के बल पर ही उन सर्वजन-साधारण अवस्थाओं को निकटता प्राप्त कर लेते हैं; और [राम आदि] किसी [व्यक्ति] को उनका आश्रय भर बना लेते हैं।

और, काव्य में वर्णित वे ही [रामादि की उदात्तादि] अवस्थाएँ अपने [रामत्वादि रूप] विशेष व्यक्तित्व को छोड़कर रस-प्रतीति का हेतु बनती हैं ॥

इस प्रकार वहाँ [काव्य में अथवा नाटक में] सीता आदि शब्द 'जनक-तनया होना' इत्यादि विशेष विशेषताओं को छोड़कर अर्थात् साधारणीकृत होकर केवल स्त्री मात्र का बोध कराने लगते हैं। ऐसी अवस्था में फिर क्या दोष हो सकता है? [अर्थात् सीता वहाँ परित्यक्त जनक-तनयात्व धारण कर आती हैं। अतः उन पूज्य देवियों के सामाजिकजनों के आलम्बन विभाव बनने में कोई दोष नहीं है]।

[अब **प्रश्न** है कि जब सीता आदि शब्द व्यक्तिविशेष के वाचक न होकर केवल स्त्री मात्र के वाचक होते हैं] तो फिर काव्य में सीता आदि का उपादान ही क्यों किया जाता है? इसीका उत्तर देते हुए कहते है—

जिस प्रकार मिट्टी से बने हाथी आदि खिलौने से खेलते हुए बालकों को उत्साह और आनन्द मिलता है उसी प्रकार श्रोतागण को अर्जुन आदि पात्रों के द्वारा अपने उत्साह का आस्वाद होने लगता है अर्थात् छोटे बच्चे जैसे मिट्टी के बने हुए

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत् स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः। किं तर्हि? प्रतिपादितप्रकारेण (उपयोगः) लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम्। यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' [ना० शा० ६.१५] इति।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४२ ॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति। तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात्। काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।

कथं च काव्यात् स्वादोद्भूतिः, किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।

हाथी-घोड़े आदि से खेलते हैं वे उन्हें सच्चे हाथी-घोड़े ही समझकर उनसे बोलते हैं, और आनन्द प्राप्त करते हैं; ठीक उसी प्रकार काव्य के श्रोता सामाजिक जन भी अर्जुन आदि पात्रों के द्वारा उन पात्रों में उत्साह देखकर स्वयं उत्साह का आस्वादन करते हैं। यद्यपि अर्जुन आदि मृण्मय हाथी घोड़े की ही भाँति अवस्तविक हैं फिर भी सहृदयों को उनसे आनन्द तो प्राप्त होता ही है ॥ ४१–४२ ॥

कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक-शृङ्गार में स्त्री आदि विभावों का उपयोग होता है उसी प्रकार यहाँ भी होता हो, सो बात नहीं है। तो फिर यहाँ क्या होता है? वस्तुतः उक्तरीति से [काव्य अथवा] नाट्य के रस लौकिक-रस से सर्वथा विलक्षण हैं; जैसा कि [भरत ने नाट्यशास्त्र ६.१५ में] कहा भी है—'नाट्य-रस संख्या मे केवल आठ ही होते हैं।'

[इस प्रकार यद्यपि मुख्य रूप से सहृदय को ही रस का आस्वाद होता है तथापि] काव्यार्थ की भावना से [उद्भूत रस का] नर्तक को भी आस्वाद हो जाए तो हम उसे अस्वीकार नहीं कर सकते ॥ ४२ ॥

[नाटकादि में अभिनय के समय] जो नर्तक को भी रस का आस्वाद [=रसवान्] होता है वह लौकिक रस की भाँति नहीं होता है; क्योंकि वह अभिनय-काल में अभिनेत्री को वह अपनी स्त्री के रूप में [=भोग्यत्वेन] नहीं समझता है। किन्तु काव्यार्थ की भावना से वशीभूत होकर यदि वह भी सामाजिक-जन के समान ही रस का आस्वादन करे तो उसे रोका नहीं जा सकता।

रस की प्रक्रिया एवं उसका स्वरूप

काव्य से किस प्रकार स्वानन्द की उद्भूति होती है? और उसका स्वरूप क्या है? अब इसीका प्रतिपादन करते हैं—

काव्यार्थ के साथ तन्मयता से जो अपने में आनन्द का अनुभव होता है वही स्वाद

विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४ ॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

काव्यार्थेन = विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे = अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रवलतरस्वानन्दोद्भूतिः = स्वादः । तस्य च सामान्यात्मनैकत्वेऽपि प्रतिनियत[1]वभावादिकारणजन्यत्वेन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद्यथा—शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति । तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः । अत एव—

[=आत्मानन्दानुभूति रस] कहलाता है। वह [स्वाद] मन के विकार, विस्तार, विक्षोभ एवं विक्षेप अवस्थावशात् चार प्रकार का होता है; जो क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में पाए जाते हैं। हास्य, अद्भुत, भयानक एवं करुण रसों में भी [मन की] वही [विकास आदि अवस्थाएँ] क्रमशः पाई जाती हैं। [इस प्रकार १. शृङ्गार एवं हास्य रस में विकास की स्थिति; २. वीर एवं अद्भुत रस में विस्तार; ३. बीभत्स एवं भय में क्षोभ और ४. रौद्र एवं करुण रस में विक्षप की स्थिति होती है] इसीलिए हास्यादि चार रसों को शृङ्गारादि चार रसों से उत्पन्न माना जाता है, और इसी से ['आठ ही रस हैं' इस प्रकार का] अवधारण भी किया जाता है ॥४३-४५॥

[कारिकागत] 'काव्यार्थ' शब्द का अर्थ विभाव आदि से संसृष्ट स्थायीभाव है; उस [स्थायीभाव] के साथ सहृदय के चित्त की समता [=सम्भेद] हो जाने पर [सम्भेद अर्थात् एक दूसरे के परस्पर घुल-मिल जाने पर] और राग-द्वेष का मूल 'मै-तुम' का भाव भूल जाने के अनन्तर जो प्रबलतर स्वानन्द की अनुभूति होती है वही स्वाद है । यद्यपि वह [स्वादरूपता] सभी रसों में सामान्य रूप से पाई जाती है तथापि प्रत्येक रस में अलग ढंग के नियत विभाव आदि के पाए जाने से उत्पन्न [चित्त की] तन्मयता के कारण उस चित्त की चार अवस्थाएँ होती हैं' जैसे कि १. शृङ्गार-रस में [चित्त का] विकास होता है; २. वीर-रस में उसका विस्तार होता है; ३. बीभत्स में क्षोभ और ४. रौद्र में विक्षेप होता है । उन [शृङ्गारादिक चार रसों] से भिन्न हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण—इन चार रसों में भी जिनकी परिपुष्टि अपनी-अपनी लब्ध-सामग्री [रूप विभावादि] के अनुसार होती है—वे ही [शृङ्गारादि-रसों में होने वाली] चार विकास आदि चित्त की अवस्थाएँ क्रमशः [हास्यादि रसों में भी] पाई जाती हैं । इसीलिए [आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में] कहा भी है—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥' [ना० शा० ६.४०]

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितः । न कार्यकारणभावाभिप्रायेण । तेषां कारणान्तरजन्यत्वात् ।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।' [ना० शा० ६.४१]

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात् अवधारणमप्यत एव 'अष्टौ' इति सम्भेदानां भावात् ।

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति । करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथमिवासौ प्रादुःष्यात् ? तथा हि तत्र—करुणात्मककाव्य-

---

'शृङ्गार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है ।'[1]

प्रस्तुत उक्ति में चित्त की अवस्था को ही लक्ष्य में रखकर हास्य आदि शृङ्गार आदि के साथ जन्य-जनक भाव कहा गया है; [अर्थात् हेतुहेतुमद्भाव जो ऊपर दिखलाया गया है वह संभेद को अर्थात् सहृदय और अनुकार्य की चित्तवृत्ति की एकता को मानकर किया गया है] कार्य-कारण भाव को मानकर नहीं किया गया है क्योंकि वे हास्यादि तो अन्य कारणों [अर्थात् अपने विभाव आदि] से उत्पन्न होते हैं शृङ्गार आदि से नहीं । [अर्थात् यहाँ पर हेतुहेतुमद्भाव के प्रदर्शन का यह अर्थ नहीं है कि एक उनके कारण (=हेतु) हैं तथा दूसरे उनके कार्य (=हेतुमान्) हैं; क्योंकि हास्यादि के कारण जो विभाव हैं वे शृङ्गारादि के कारण वभावों से सर्वथा भिन्न हैं] ।

[और, आगे वहीं नाट्यशास्त्र में ही]—

'शृङ्गार का अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति [=अनुकृति] 'हास्य' कही जाती है ।'

इस उक्ति के द्वारा विकासादि के सम्भेद की एकता का ही स्पष्टीकरण किया गया है । इसीलिए 'आठ ही रस हैं'—इस प्रकार का अवधारण भी किया गया है; क्योंकि चित्त के संभेद की चार अवस्थाओं में से एक-एक अवस्था के अधीन दो-दो अर्थात् आठ ही रस-भेद हो सकते हैं, [नौ या दस नहीं । इस प्रकार चार से भिन्न चित्त की तन्मयता की अवस्थाओं के अभाव के कारण 'आठ ही रस हैं' यह अवधारण युक्ति-युक्त है] ।

सभी रसों का स्वरूप आनन्दात्मक है या दुःखात्मक भी है ?

अब **प्रश्न** यह है कि लोक में शृङ्गार, वीर एवं हास्य प्रभृति के प्रमोदात्मक होने से उनके सुखस्वरूप होने में किसी बात की शङ्का नहीं है; क्योंकि काव्यार्थ के साथ सहृदय

---

१. चार मुख्य रसों से चार (गौण) रसों की उत्पत्ति का आशय है उनके विभावों द्वारा इन रसों की उत्पत्ति या पुष्टि का होना ।

श्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते।

सत्यमेतत्। किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः। तथा हि–अत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद् तृतदुःखात्मकत्वमेवेह स्यात् तदा न कश्चित् तत्र प्रवर्तेत। ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते। तस्माद् रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

ननु च शान्तरसस्याऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीत-

---

के चित्त की तन्मयता [=सम्भेद] होने से [और शृङ्गारादि के सुखात्मक होने से] आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु करुण आदि दुःखात्मक रसों में आनन्द की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ? क्योंकि दुःखात्मक करुण-प्रधान काव्यों के श्रवण से दुःख का आविर्भाव एवं अश्रुपात आदि का प्रादुर्भाव रसिकों में भी होता है। यदि वे सुखात्मक होते तो ऐसा क्यों होता ?

[**उत्तर**] यह बात ठीक है, किन्तु करुण-काव्यों के श्रवण से रसिक-जन को दुःख होता है और अश्रुपातादि होते हैं किन्तु लौकिक करुणादि से काव्यगत करुणादि अलग हैं] यह [काव्य से उत्पन्न होने वाला] आनन्द वैसा ही सुख-दुःखात्मक है जैसा कि सुरत के समय कुट्टमित [=कुपित हाव] नखक्षत-दन्तक्षत रूप प्रहारादि में होने वाला आनन्द स्त्रियों के लिए सुख-दुःखात्मक होता है। दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करुण की अपेक्षा काव्य के करुण रस में एक प्रकार की विलक्षणता होती है। यहाँ उत्तरोत्तर रसिकों की प्रवृत्ति बढ़ती ही जाती है; और, यदि लौकिक करुण के समान यहाँ का करुण भी, दुःख ही देने वाला होता तो कोई भी दर्शक या पाठक की कभी प्रवृत्ति ही [नाटक देखने या काव्य-श्रवण में] न होती। ऐसा होने पर तो करुण-रस प्रधान रामायण आदि महाकाव्यों का उच्छेद ही हो जाता। रही अश्रुपातादि की बात, सो तो कथा के वर्णन को सुनने से सहृदय सामाजिक को वैसे ही दुःख का अनुभव होता है जैसे लौकिक व्यवहार में किसी दुःखी व्यक्ति की विकलतावश लोगों को अश्रुपातादि हो जाते हैं। अतः ऐसे वर्णनों को सुनकर रसिकों द्वारा किए गए अश्रुपातादि से आनन्द का कोई विरोध नहीं है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि [शृङ्गारादि] अन्य रसों के समान करुण रस भी आनन्दात्मक ही है।

शान्त-रस और उसका अन्तर्भाव

[जैसा कि 'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' ४.३५ में कहा गया है कि] शान्त रस के अभिनेय न होने के कारण यद्यपि नाट्य में उसका अनुप्रवेश नहीं हो सकता तथापि श्रव्यकाव्य में उसका अभिनिवेश इसलिए नहीं अस्वीकार किया जा

तादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते। अतस्तदुच्यते—

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥ ४५ ॥

शान्तो हि यदि तावत्—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥'

इत्येवंलक्षणः, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता। तथा हि–श्रुतिरपि 'स एष नेति नेति' [बृह० उ० ३.९.२६] इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादि लक्षणस्तस्य च विकासविस्तार-क्षोभविक्षेपरूपतैवेति। तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

सकता, क्योंकि सूक्ष्म और अतीत आदि सभी वस्तुओं का प्रतिपादन शब्द द्वारा हो सकता है अतः शान्त रस के श्रव्य-काव्य के विषय बनने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए कारिका में कहते हैं—

शम [नामक स्थायीभाव] का प्रकर्ष [शान्त-रस यदि कहा जाय तो वह] अकथनीय है। [उसके स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह सुख, दुःख, चिन्ता आदि सभी से परे हैं] किन्तु [उस शान्त रस को प्रकट करने की उपायभूत] जो मुदिता प्रभृति वृत्तियाँ हैं वे [उन चित्त की विकासादि चार अवस्थाओं में हो] अन्तर्भावित हो जाती हैं ॥ ४५ ॥

शान्त रस का स्वरूप यदि इस प्रकार माना जाय—

'जहाँ न दुःख है, न सुख है, न चिन्ता है, न राग-द्वेष ही है और जहाँ न कोई इच्छा ही है, सभी भावों में शम की ही प्रधानता है, उस रस को मुनीन्द्रों के द्वारा शान्त रस कहा गया है।'

यदि यही लक्षण हो तो उस [शान्त-रस] का प्रादुर्भाव मोक्ष की उस अवस्था में ही होना सम्भावित है जहाँ की आत्मस्वरूप की उपपत्ति हो जाती है; और उस [आत्मा के स्वरूप] की अनिर्वचनीयता को श्रुति में भी—'वह [आत्मा] यह नहीं है, यह नहीं है'—इस प्रकार (बृहदारण्यक उपनिषद् ३.९.२६ में) अन्यापोह अर्थात् अन्य से व्यावृत्त के रूप में कहा गया है; अर्थात् आत्मा के स्वरूप को अन्य से अलग करके नहीं बतलाया जा सकता और उस प्रकार के अनिर्वचनीय शान्त-रस का आस्वाद सांसारिक सहृदय-जनों को नहीं होता; अपितु उस शम की उपायभूत जो मुदिता [=आनन्द], मैत्री, करुणा और उपेक्षादि रूप चित्त की चार वृत्तियाँ हैं, और जो क्रमशः विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप की ही प्रतिरूप हैं, उनसे शान्त-रस का आस्वाद

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद् विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥ ४६ ॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितः = भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

होता है । इस प्रकार उन [विकास आदि चित्त की भूमियों] के कथन के द्वारा ही शान्त रस के आस्वादन का निरूपण हो जाता है ।

परिष्कार—सुखी व्यक्तियों के प्रति **मैत्री**, दुःखी लोगों के प्रति **करुणा**, पुण्यात्माओं के प्रति **मुदिता** एवं पापियों के प्रति **उपेक्षा** का भाव रखने से ही चित्त वृत्ति का परिष्कार हो जाता है; और उसी से शान्त रस का प्राकट्य होता है । इन चित्त-वृत्तियों का सन्निवेश जब उन्हीं विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप में हो जाता है तो शान्त रस का भी उन्हीं आठ रसों में अन्तर्भाव हो जाता है; और काव्य-सम्बन्धी शान्त रस के आस्वाद का निरूपण भी उसी से हो जाता है ।

[रस की प्रक्रिया और उसका स्वरूपसम्बन्धी **उपसंहार** इस प्रकार है]—

[रस विषयक विभिन्न सिद्धान्तों के विवेचन के बाद] अब विभावादि से सम्बन्धित जो काव्य का अन्य व्यापार होता है उनके प्रदर्शन के साथ-साथ प्रस्तुत प्रकरण का **उपसंहार** करते हैं—

काव्य में विभाव, सञ्चारीभाव एवं अनुभाव नाम से प्रख्यात होने वाले क्रमशः जब चन्द्रमा, निर्वेद और रोमाञ्चादि रूप पदार्थों के द्वारा भावित [अर्थात् परिपोष को प्राप्त होने वाले रत्यादि] स्थायीभाव का जो आस्वादन किया जाता है उसे ही 'रस' नाम से अभिहित करते हैं ॥ ४६-४७ ॥

अतिशयोक्ति रूप काव्य-व्यापार के द्वारा विशेष प्रकार का [लोकोत्तर] वर्णन प्राप्त करके, चन्द्रादि उद्दीपन-विभावों के द्वारा, रमणी प्रभृति आलम्बन-विभावों के द्वारा, निर्वेदादि व्यभिचारीभावों के द्वारा और रोमाञ्च, अश्रु, भ्रू-विक्षेप जो वाक्यार्थ रूप अनुभावों के द्वारा अवान्तर व्यापारतया—पदार्थीभूत जो वाक्यार्थ रूप स्थायी भाव है, वह भावित अर्थात् भावरूपता को प्राप्त होकर जब आस्वाद्य रूप में प्रतिपन्न होता है तो वही '**रस**' कहलाता है—[कारिकागत] यही पूर्वोक्त [दश० ४.३७-४७] प्रकरण का तात्पर्य है ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते—तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद् रसभावयोः ॥ ४७ ॥

क्रियत इति वाक्यशेषः ।

परिष्कार—अतिशयोक्ति अर्थात् चमत्कारपूर्ण कथन ही काव्य का व्यापार है । उस काव्य के व्यापार में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव पदार्थीभूत होते हैं, और स्थायीभाव वाक्यार्थ होता है, और वह वाक्यार्थ रूप स्थायीभाव आस्वाद का रूप धारण कर 'रस' कहलाता है । वस्तुतः अतिशयोक्ति के रूप में वर्णित चन्द्र व नदी तीर आदि उद्दीपन-विभाव होते हैं; रमणी आदि आलम्बन-विभाव, निर्वेदादि व्यभिचारीभाव और रोमाञ्च, अश्रुपात, भ्रू-विक्षेप एवं कटाक्षादि अनुभाव होते हैं । इस प्रकार ये चन्द्रादिक-विभावादि ही वाक्यार्थ रूप स्थायीभाव को भावनागम्य बनाकर आस्वाद्य रूप में प्रतिपन्न करते हैं । यही रस के प्राकट्य की प्रक्रिया और उसका स्वरूप है ।

रसों के लक्षण और उनके भेद—

[सामान्य रूप से रस के निरूपण के अनन्तर अब इन रसों के] विशेष लक्षणों को बतलाया जा रहा है । नाट्यशास्त्र के पूज्य आचार्य [भरत] के द्वारा विभाव आदि का प्रतिपादन करते हुए रत्यादि स्थायीभावों और शृङ्गार आदि रसों के पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाए गए हैं; किन्तु यहाँ—

[शृङ्गार आदि रसों और रत्यादि] स्थायीभावों के एक ही लक्षण बतलाए जा रहे हैं, क्योंकि [शृङ्गार आदि] रसों और [रत्यादि] स्थायीभावों के [आलम्बन एवं उद्दीपन] विभाव एक ही होते हैं । इसीलिए उनमें कोई भेद नहीं है, अपितु अभेद [=अभिन्नता] है [वस्तुतः स्थायीभावों की ही परिपुष्ट स्थिति 'रस' कही जाती है] ।

[कारिकागत 'लक्षणैक्यम्' पद के साथ 'क्रियते' अर्थात्] 'किया जाता है' यह वाक्य में जोड़ना चाहिए ।

परिष्कार—भरत मुनि के द्वारा विभाव आदि का निर्देश करते हुए शृङ्गार आदि रसों का लक्षण ना० शा० ६.४५ में किया गया है । इसके बाद फिर ना० शा० ७.८ में भी विभाव आदि का निर्देश करते हुए रति आदि स्थायीभावों का लक्षण किया गया है । जबकि शृङ्गार रस और रति भाव के विभाव एक ही हैं । अतः धनञ्जय के अनुसार विभाव आदि के द्वारा आस्वादित रति रूप स्थायीभाव ही शृङ्गार रस हैं । इसलिए स्थायीभाव और रस में तत्त्वतः कोई भिन्नता नहीं है । अतः उनके लक्षण के अलग अलग निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं है ।

तत्र तावच्छृङ्गारः —

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्य शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति । कव्युपदेशपरमेतत् ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।

---

१ शृङ्गार-रस

उन [रसों] में **शृङ्गार** [नामक प्रथम] रस का निरूपण करते हैं—

एक दूसरे पर अनुरक्त युवक एवं युवति को रमणीय देश, कला, काल, वेष तथा भोग इत्यादि के सेवन के द्वारा जो आनन्दात्मक रति रूप स्थायीभाव होता है वही [रति-भाव] अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा अत्यन्त पुष्ट होकर 'शृङ्गार-रस' कहलाता है ॥ ४८ ॥

अर्थात् इस प्रकार [बाग-बगीचा, एकान्त स्थान आदि, चित्रकला आदि में निपुणता, सन्ध्या आदि सुहावने समय, सुन्दर भोग विलास एवं कटाक्ष-विक्षेप आदि मधुर आंगिक चेष्टाओं] का वर्णन करने वाला काव्य शृङ्गार-रस का आस्वादन कराने में समर्थ होता है; इस प्रकार [कारिका में] कवि के लिए यह उपदेश-परक कथन किया गया है ।

परिष्कार—काव्य के वर्णन से रसिकों के चित्त में जो विशेष प्रकार का आनन्द होता है वही शृङ्गार रस है । मनोरम स्थान, सुहावना समय आदि उसके उद्दीपन विभाव हैं । मधुर आङ्गिक चेष्टाएँ अनुभाव हैं । इसी प्रकार इसके व्यभिचारीभावों का निरूपण ४.४९ में किया जायगा ।

अब आगे देश, काल आदि की रमणीयता रूप उद्दीपन विभाव को स्पष्ट करते हुए तत्तत् विभाव के द्वारा कैसे रति भाव का स्फुरण तथा शृङ्गार रस का आस्वादन होता है । इसे उदाहरणों के द्वारा दिखलाया जा रहा है—

(i) उन [उद्दीपन विभावों] में **देश [=स्थान] रूप विभाव** का उदाहरण 'उत्तर-रामचरित' में इस प्रकार है—

[राम सीता से कहते हैं–] हे सुन्दरी ! उस पर्वत मे लक्ष्मण द्वारा की गई शुश्रूषा से स्वस्थ हम दोनों के उन दिनों की याद करती हो ? अथवा वहाँ स्वादु जलवाली

स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥' [उत्तर० १.२६]

कलाविभावो यथा—

[1]अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासोर्लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पोऽनुवृत्तै-
र्भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव ॥' [मालवि० २.८]

गोदावरी की याद करती हो ? तथा गोदावरी के तट पर हम दोनों के रहने की याद करती हो ?

(ii) **कला [=नृत्यकला] रूप विभाव** का उदाहरण ['मालविकाग्निमित्र' में इस प्रकार है]—

[मालविका की नृत्यकला के द्वारा अग्निमित्र के हृदय में स्फुरित स्थायीभाव शृङ्गार-रस के रूप में परिपुष्ट हो रहा है]—

मालविका के [उन अभ्यासपटु] अङ्गों के द्वारा [वाणी की सामर्थ्य से विहीन होने पर भी] अर्थों [=भावों] की व्यञ्जना स्फुट रूप से करा दी गई, जिन [अंगों की भावभङ्गिमा] में वचन [=वाक्य रूप से] अन्तर्निहित हैं । [नृत्य के अवसर में] पादन्यास [ताल के मापक] लय का अनुसरण करता रहा । रत्यादि रसों के अभिनय में तादात्म्य था अर्थात् रस के विषय में रसमग्नता बनी रही । हाथों द्वारा दिया गया ताल [=शाखायोनिः] सुकुमार [=मृदु] अभिनय के विकल्पों के अनुसरण में संगीतातिरिक्त [=विषयात्] भावों से अभिप्रायविशेष अर्थात् संचारीभावों की प्रेरणा करता रहा । पहले जैसी वही रागबन्ध [मुखराग] भी बनी रही ।'[2]

---

१. 'हस्तैः' इति वा पाठः ।

२. रामपारककृता व्याख्या—अङ्गैरित्यादि । अन्तर्निहितवचननैरन्तर्निहितान्यभ्यन्तरस्थापितानि वचनानि पदानि यैस्तैरङ्गैर्हस्तादिभिः । अत्राभ्यासपाटवादङ्गानां स्वत एवान्तर्निहितवचनत्वमुत्प्रेक्षितमिति मन्तव्यम् । अङ्गैः = पताकादिमुद्राविशिष्टहस्ताद्यवयवैः करणैः । अर्थः=गीतार्थः, दुर्लभ इत्यादिगेयप्रबन्धार्थः सम्यक् = साधु । सूचितः = प्रकाशितः । अनेन वाक्येन हस्तमुद्राशुद्धिः प्रदर्शिता । पादन्यासः = पादस्य न्यासो विन्यासः । अस्या नृत्ताद्याश्रयः पादप्रक्षेपः । लयं = कालक्रिया साम्यम्, अनुगतः = अनुसृतः । लयो नाम तालमानम् 'तालवर्ती तु यः कालः स काललयनाल्लयः' इत्युक्तत्वात् । अत्र पादन्यासस्य स्वतो लयानुसरणमभ्यासपाटवादिति मन्तव्यम् । रसेषु = रस्यत इति रसः, रतिर्निर्वेदादिः तेषु तदभिनयेष्वित्यर्थः । [अत्र 'रस'—शब्देनोपचारात् परितोषातिशयवत्त्वादिभावाः कथ्यन्ते । प्रकृतरसस्यैकत्वात् 'रसेषु' इति बहुवचनानुपपत्तिप्रसङ्गात्] । सत्सु । तन्मयत्वम् = अनुकार्यतादात्म्या-

यथा च—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता-
स्तावौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥'
[नागा० १.१५, प्रियदर्शिका ३.१०]

अथवा, जैसे ['नागानन्द' नामक नाटक में नायिका के गीत को सुनकर नायक के भाव इस प्रकार प्रकट हो रहे हैं—**नायक**—मित्र ! यह संगीत कितना मधुर है और यह बजाना कितना अद्भुत है ?]—

'इस गान में वीणा बजाने की दसों प्रकार की व्यञ्जनरीति स्पष्ट अभिव्यक्त हो रही है । तीनों प्रकार के लय १. द्रुत [=तेज]; २. मध्य [बीच का] तथा ३. विलम्बित [जिसमें विलम्ब हो] यहाँ साफ तौर से मालूम पड़ रहे हैं । गोपुच्छ आदि तीनों तरह की यति [=जहाँ विराम होता है] इस गीत में ठीक स्थान पर रक्खी गई है; तथा तत्त्व, ओघ एवं अनुगत त्रिविध वाद्य विधियाँ [=बाजा बजाने का प्रकार] भी सम्यक् रूप से दिखलाई गई हैं ॥'

परिष्कार—इस प्रकार जहाँ संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं के माध्यम से रतिभाव का उद्बोधन होता है वहाँ **केला-विभाव** है । इसके दो उदाहरण वृत्तिकार

पत्तिः । अस्या भवति । अनेन सात्त्विकाभिनय शुद्धिः दर्शिता । शाखा = आङ्गिकः योनिरुत्पत्तिसाधनं यस्य सः । यथोक्तमाचार्य भरतेन—'आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा' इति । 'शाखा तु नृत्तहस्तानां या मात्रोचितनर्तनी' इति । शाखा नाम नृत्तहस्तानां मानप्रचारः । अभिनयः मृदुः = लघुः अभ्यासातिशयादनायासकृत इत्यर्थः । अनेनाङ्गिकाभिनयशुद्धिः प्रदर्शिता । अथ सर्वमुपसंहृत्याह—तद्विकल्पेति ॥ तेषामङ्गैरित्यादिना उक्तानां हस्तमुद्रादीनां ये विकल्पाः विविधकल्पनाः प्रभेदा इति यावत् । तेष्वनुवृत्तौ अनुषक्ततया वृत्तौ सत्यां भावः = अभिनीतो रतिनिर्वेदादिः । हस्तमुदादिसहितभावाभिनय इत्यर्थः । भावं = सामाजिकानां मनः, विषयात् नुदति = स्वस्मिन् प्रेरयति विषयान्तराद् व्यावर्त्य स्वस्मिन्नासञ्जयतीत्यर्थः । अस्या रागबन्धः = स्थिरः कृतो मुखरागः । सः = प्रसिद्ध एव भरतशास्त्रोक्त एवेत्यर्थः । यथाह भरतः—

'अथातो मुखरागस्तु चतुर्धा स च कीर्तितः ।
स्वाभाविकः प्रसन्नश्च रक्तः श्यामोऽर्थसंश्रयः ॥
प्रसन्नस्त्वद्भुते कार्यो हास्यशृङ्गारयोस्तथा । इति ।

अनेन मुखरागशुद्धिश्च प्रदर्शिता । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥

के द्वारा दिए गए हैं । प्रथम उदाहरण में नृत्यकला के द्वारा अग्निमित्र में रतिभाव के स्फुरण का दिग्दर्शन कराया गया है । द्वितीय उदाहरण में गान के माध्यम से नायक में रतिभाव का स्फुरण दिखलाया गया है । [क] 'अंगैः' इत्यादि श्लोक में कवि ने नृत्य के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है । लय, शाखायोनिः आदि का अर्थ संस्कृत टीका में देखना चाहिए । 'षड्विकल्प०' आदि पाठ ठीक नहीं है । 'तद्विक०' ही होना चाहिए । यहाँ सम्पूर्ण श्लोक का पाठ 'मालविकाग्निमित्र' के ही अनुसार कर दिया गया है ।

[ख] वीणा के बजाने के चार प्रकार होते हैं जैसा कि भरत ने कहा है—

विस्तारः करणश्चैव आविद्धो व्यञ्जनस्तथा ।
चत्वारो धातवो ज्ञेया वादित्रकरणाश्रयाः ॥ [ना० शा० २९.८१]

इनमें **व्यञ्जनरीति** सबसे श्रेष्ठ है । इसके दस प्रकार होते हैं—

व्यञ्जनधातुर्ज्ञेयः कल[1]तल[2]निष्कोटि[3]तान्ययोन्मृष्टम्[4] ।
रेफा[5]वमृष्ट[6]पुष्पा[7]नुस्वनित[8] बिन्दु[9]रबन्धः[10] ॥[ना०शा०२९.८९]

तालान्तरालवर्ती काल ही **'लय'** है । यह तीन प्रकार का होता है—१. द्रुत २. मध्य, और ३. विलम्बित । जैसा कि कहा भी है—

तालान्तरालवर्ती यः स कालो लय उच्यते ।
त्रिविधः स च विज्ञेयो द्रुतो मध्यो विलम्बितः ॥

ताल का जहाँ विराम होता है उसे **'यति'** कहते हैं । इसके तीन प्रकार होते हैं—१. समा, २. स्रोतोवहा और ३. गोपुच्छ । जैसा कि कहा भी है—

वाद्यैर्हीनः श्रवणसुभगो नामतः सा यतिः स्यात् ।
लयगानाद् यतिः सम्यक् कथिता दत्तिलादिभिः ॥
समा स्रोतोवहा चैक गोपुच्छा चेति सा त्रिधा ।

वीणावादन के तीन प्रकार होते हैं—१. तत्त्व, २. अनुगत और ३ ओघ । कहा भी है—

त्रिविधं वैणवं वाद्यं कर्तव्यं गोतसंश्रयं तज्ज्ञैः ।
तत्त्वं तथानुगतमोघश्चानेककणसंयुक्तम् ॥

सभी पारिभाषिक शब्दों के लक्षण आदि के लिए नाट्यशास्त्र का २९ वां अध्याय देखना चाहिए ।

इस प्रकार उपरोक्त दोनो ही पद्यों में शास्त्रीय नृत्य, गान तथा वाद्यविधान का वर्णन है । कवि ने संगीतशास्त्र विषयक अपना प्रकृष्ट पाण्डित्य अच्छे ढंग से दिखलाया है । 'व्यक्तिः' आदि श्लोक हर्ष के ही अन्य ग्रन्थ 'प्रियदर्शिका' में भी पाया जाता है ।

कालविभावो यथा कुमारसंभवे—

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात् प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥' [कुमार०३.२६]

इत्युपक्रमे—

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥' [कुमार०३.३६]

वेषविभावो यथा तत्रैव—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ [कुमार० ३.५३]

(iii) **काल रूप विभाव** का उदाहरण 'कुमारसम्भव' में इस प्रकार है—

[मूर्तिमान् वसन्त के स्वयं तपोवन में आने से] 'अशोक वृक्ष ने, झङ्कृत नूपुरों वाले सुन्दरियों के चरणस्पर्श (पादप्रहार) की भी अपेक्षा न कर, तत्काल ही तने से लेकर ऊपर तक पल्लव-सहित कुसुमों को उत्पन्न कर दिया ।'

ऐसा उपक्रम करके—[रसिक लोग जैसे एक ही प्याले में मदिरा भरकर अपनी प्रिया के पान करने पर बचा हुआ स्वयं पीते हैं इसी तरह] 'भ्रमर एक ही पुष्प में स्वकीय भ्रमरी का अनुसरण करता हुआ मधु का पान करने लगा और कृष्णसार नामक मृग स्पर्शजन्य सुख से आँख मूँदकर खड़ी रहने वाली स्वकीय प्रिया मृगी को अपने सींग से खुजलाता हुआ खुशामद करने लगा ।'

परिष्कार—जहाँ वसन्त आदि काल विशेष के माध्यम से रति-भाव का उद्बोधन हो वहाँ कालविभाव होता है । (क) ऐसी प्रसिद्धि है कि सुन्दरियों के पादप्रहार से अशोक वृक्ष फूल उठता है । किन्तु यहाँ वसन्त ऋतु के कारण अशोक ने उनकी अपेक्षा न की । (ख) यहाँ भ्रमर तथा भ्रमरी का एक पुष्प-पात्र में मधुपान करना तथा मृग का मृगी को अपने सींग से खुजलाना एवं मृगी के उसके स्पर्श को पाकर आँखें बन्द कर लेने के द्वारा रति भाव का उद्बोधन कालविशेष के वर्णन से प्रदर्शित किया गया है । इस प्रकार 'कुमारसम्भव' के ३.२६ से ३.३६ तक दश श्लोकों में वसन्त रूप काल-विशेष के द्वारा रति भाव का उद्बोधन है ।

(iv) **वेष रूप विभाव** का उदाहरण वहीं 'कुमारसम्भव' में इस प्रकार है—

[भगवान् शङ्कर के पूजन के लिए जाती हुई] पद्मरागमणि [की लालिमा] को भी लज्जित कर देने वाले अशोक के पत्तों के, सोने की भी कान्ति को खींच लेने वाले कर्णिकार के फूलों के, मोतियों की माला के समान सिन्दुवार के पुष्पों के, वसन्तऋतु में उत्पन्न होने वाले फूलों से बने आभरणों को धारण करने वाली [पार्वती को कामदेव ने देखा] ।

परिष्कार—जहाँ रमणीय वेषविन्यास के माध्यम से रतिभाव के उद्बोधन का प्रसङ्ग उपस्थित हो वहाँ 'वेषविभाव' होता है । प्रस्तुत स्थल में पार्वती के वासन्ती

उपभोगविभावो यथा—

'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ॥' [सूक्तिमुक्तावल्याम्]

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

'जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥' [मालती०१.३९]

कुसुमों के आभरण सुवर्ण या रत्नों के आभरण से भी बढ़कर मनोहर थे । इस प्रकार यहाँ पार्वतीरूप आलम्बन के वेष रूप उद्दीपन विभाव का वर्णन है ।

(v) **उपभोग विभाव** का उदाहरण इस प्रकार है—

[प्रातःकाल नायिका की सखी ने उसके शरीर पर रति के चिह्नों को देखकर कहा]—'हे तरुणि ! तुम्हारी आँखों का कज्जल-कण कुछ-कुछ पुँछ गया है, अधरोष्ठ पर ताम्बूल के कारण उत्पन्न ललाई भी चाट ली गई है, तुम्हारा जूड़ा भी शिथिल होकर कपोल तल पर बिखेर गया है, शरीर की कान्ति भी लुप्त-सी हो गई है । हे मान करने वाली ! सम्प्रति ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे प्रियतम ने अनेक उपायों के द्वारा तुम्हारी चित्त रूपी स्थली पर बढ़े हुए मान रूपी महान् वृक्ष को तोड़ डाला है, अर्थात् किसी न किसी प्रकार तुम्हारा मान हटा ही दिया गया है ।'

परिष्कार—जहाँ नायक एवं नायिका के सम्भोग-चिह्नों के द्वारा रति-भाव परि-लक्षित हो वहाँ उपभोग विभाव होता है । प्रस्तुत स्थल में तरुणी के कज्जल की लुप्तता आदि रति-चिह्नों से नायक का रति-भाव व्यञ्जित होता है ।

(vi) **प्रमोदात्मक-रति रूप विभाव** का उदाहरण 'मालतीमाधव' में इस प्रकार है—

'संसार में नवीन-चन्द्रकला आदि विजयशील [=चित्ताकर्षक] भाव हैं, और दूसरे भी भाव जो स्वभाव से मधुर एवं मन को मस्त बना देने वाले हैं, वे तो हैं ही । [वे तो दूसरों के मन को मत्त करते होंगे] परन्तु यह सारे संसार के नेत्रों की चाँदनी रूप मालती मेरे नेत्रों का विषय बनी है, मेरे जीवन में बस यही एक महोत्सव है ।'

परिष्कार—प्रकृष्ट आनन्द ही प्रमोद है । प्रस्तुत स्थल में मालती को देखकर माधव की स्वदशा वर्णन में रति की प्रमोदात्मकता परिलक्षित है ।

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ॥' [मालवि० २.३]

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

'भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्—
गाढोत्कण्ठा लुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥' [मालती० १.१६]

(vii) **युवति-विभाव** का उदाहरण 'मालविकाग्निमित्र' में इस प्रकार है—

[मालविका को देखकर अग्निमित्र मन ही मन इस प्रकार सोचते हैं]—'बड़ी बड़ी आँखों वाला इसका मुख शरद् ऋतु के चन्द्रमा की कान्ति से युक्त है, स्कन्धदेश नत बाहु-युगल से शोभायमान है, स्तनमण्डल के पीनोन्नत होने पर भी वक्षःस्थल संकुचित है। दोनो पार्श्व-भाग सिमटे से हैं। इसका मध्यभाग इतना पतला है कि मुट्ठी से नापा जा सकता है किन्तु जघन स्थल अर्थात् नितम्ब के भारीपन से उभरा हुआ है तथा इसके दोनों पैर कुछ झुकी हुई अँगुलियों से शोभित हैं, मालूम पड़ता है कि नृत्योपदेशक के अभिप्राय को लक्ष्य करके ही इसे साज-सज्जा दी गई हो।'

परिष्कार—जहाँ युवति के यौवन के वर्णन से रति-भाव का उद्बोधन हो वहाँ युवति-विभाव होता है। प्रस्तुत मालविकाग्निमित्र के उदाहरण में नृत्य के लिए उपस्थित मालविका के यौवन के वर्णन के द्वारा युवति-विभाव का द्योतन होता है।

(viii) **युवक तथा युवति दोनों के विभाव** का उदाहरण 'मालतीमाधव' में इस प्रकार है—

[कामन्दकी की उक्ति है]—राजमहल की अटारी के उत्तुंग वातायन पर बैठी हुई रति सदृशी मालती, अपने पार्श्व-नगर की गली से बार-बार घूमने वाले साक्षात् नूतन कामदेव के सदृश माधव को देख-देखकर उत्कट उत्कण्ठा से युक्त हुई स्पन्दित-सुन्दर-अङ्गों से पीड़ित हो रही है।'

परिष्कार—जहाँ दोनों ही नायक-नायिका के यौवन का वर्णन हो वहाँ दोनों युवकों का विभाव होता है। प्रस्तुत स्थल में मालती तथा माधव दोनों के यौवन का वर्णन है। दोनों ही प्रेमासक्त हैं। दोनों ही एक दूसरे की अभिलाषा रखते हैं। इस प्रकार दोनों का यौवन ही पारस्परिक रतिभाव का कारण है।

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥' [मालती० १.३२]

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥ [मालती० १.२८]

(ix) [नायक-नायिका के] **परस्पर-अनुराग रूप विभाव** का उदाहरण वहीं 'मालती-माधव' में इस प्रकार है—

[मकरन्द से माधव कहता है]—'झुके हुए नाल [=वृन्त] वाले कमल के सदृश बार-बार कुछ टेढ़ी ग्रीवा वाले मुख को धारण करती हुई प्रशस्त रोमावलियों से युक्त नेत्रों वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष में बुझा हुआ कटाक्ष रूपी बाण मानों मेरे हृदय में बड़ी गहराई से गाड़ दिया है।'

परिष्कार—प्रस्तुत स्थल में मालती और माधव के परस्पर-अनुराग के वर्णन से अन्योन्यअनुराग रूप विभाव का प्रदर्शन किया गया है। यह उदाहरण दश० १.२८ में भी उद्धृत है।

(x) **अङ्गों की मधुर चेष्टा रूप विभाव** का उदाहरण वहीं 'मालतीमाधव' में इस प्रकार है—

[माधव मकरन्द से मालती की मधुर चेष्टाओं का वर्णन करते हुए कहता है]—'निश्चल और विकसित, ऊपर चलने वाली भ्रू-लताओं से युक्त, अनुराग से स्निग्ध तथा [अनिर्वाच्य सुखानुभूति से] कुछ-कुछ बन्द, अपाङ्ग-देश तक विस्तारवाली और मेरी दृष्टि से सङ्गमित होने पर लज्जा से सङ्कुचित हुई सी मालती की विविध प्रकार की दृष्टियों का मैं पात्र बन गया।'

परिष्कार—प्रस्तुत स्थल में नायक-मालती के दृष्टिपातों का अनेक प्रकार से पात्र बन गया है। मालती ने भौंहे नचाकर दीर्घ नेत्रों के द्वारा स्निग्ध तथा कभी मन्द होते एवं कभी विकसित होते हुए कटाक्षपातों को नाना प्रकार से जो माधव की ओर फेंका यही **मधुर चेष्टाएँ** हैं।

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति ।
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥ ४९ ॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनः, अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत् भावा युक्त्या=अङ्गत्वेनोपनिबध्यमानाः शृङ्गारं सम्पादयन्ति । आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव ।

तद्विभागस्तु—

अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

शृङ्गार के पोषक एवं विरोधी-भाव—

पहले जो आठ सात्त्विक-भाव, आठ स्थायी-भाव और तैंतिस व्यभिचारी-भाव कहे गए हैं—इन [८ + ८ + ३३ = ४९] उन्चास भावों का काव्य में किया गया युक्तिपूर्वक निबन्धन शृङ्गार रस का परिपोष करता है । किन्तु आलस्य, उग्रता तथा मरण नामक सञ्चारी भाव और जुगुप्सा नामक स्थायी भाव का शृङ्गार के साथ एक ही आलम्बन को आश्रय बनाकर किया गया उपनिबन्धन विरुद्ध होता है ॥ ४९ ॥

तैंतिस व्यभिचारी, आठ स्थायी, और आठ सात्त्विक भाव मिलकर उन्चास भाव होते है । 'युक्ति' अर्थात् अङ्ग रूप में उपनिबद्ध होने पर ये शृङ्गार-रस का परिपोष करते हैं । आलस्य उग्रता, जुगुप्सा तथा मरण आदि का एक ही आलम्बन विभाव को आश्रय बनाकर अथवा साक्षात् अङ्गरूप से उपनिबद्ध करना शृङ्गार रस के विरुद्ध होता है । किन्तु प्रकारान्तर से इनकी समायोजना विरुद्ध नहीं होती जिसका प्रतिपादन पहले ही [दश० ४.३४ में] हो चुका है ।

परिष्कार—(क) **आश्रयाद्वैत विरुद्धम्** का तात्पर्य है कि जो नायिका शृगार का आलम्बन हो वही शृङ्गार के विरोधी आलस्य आदि का आलम्बन नहीं बन सकती । किन्तु प्रकारान्तर से अर्थात् अन्य आलम्बन विभाव का आश्रय लेकर आलस्य आदि का प्रतिपादन हो सकता है । (ख) नाट्यशास्त्र में आलस्य, उग्रता एवं जुगुप्सा को छोड़कर अपनी संज्ञा के अनुसार शृङ्गार का उद्भावन करना बतलाया गया है ।

आलस्यौग्र्यजुगुप्साख्यैरेवं भावैस्तु वर्जिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावाः स्वसंज्ञया ॥ [ना० शा० ७.११५]

शृङ्गार के भेद—

वह [शृङ्गार रस] तीन प्रकार का होता है—१. अयोग २. विप्रयोग एवं ३. सम्भोग ।।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद् विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः । तथा हि—दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ५० ॥

[**प्रश्न**—यह है कि विप्रयोग का जो शाब्दिक अर्थ है वही विप्रलम्भ का भी है । फिर विप्रयोग के स्थान पर कारिका में 'विप्रलम्भ' शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं किया गया ?]

उत्तर यह है कि अयोग और विप्रयोग विप्रलम्भ के ही प्रकार-विशेष होने से और विप्रलम्भ शब्द के सामान्याभिधायक होने के कारण उसका दूसरा अर्थ 'प्रवञ्चना' उपचार [=लक्षणा] के द्वारा न ले लिया जाय इसलिए [दोनों ही अयोग एवं विप्रयोग के वाचक] विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग [कारिका में] नहीं किया गया है । जैसा कि प्रसिद्धि भी इसी प्रकार है कि १. आने का संकेत देकर नायक का न आना, २. नायक के द्वारा अपने आने की अवधि का अतिक्रमण कर जाना और ३. नायक के अन्य नायिका में आसक्त हो जाने के अर्थ में ही 'विप्रलम्भ' शब्द का मुख्यतः प्रयोग होता है; क्योंकि इसका अर्थ है 'वञ्चना' ।

परिष्कार—[क] 'अयोग' का अर्थ है न मिलना और 'विप्रयोग' का अर्थ है मिलकर अलग हो जाना । ये दोनों विप्रलम्भ के ही विशेष रूप हैं । 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग अयोग और विप्रयोग दोनों के ही लिए होता है । वस्तुतः आचार्य भरत ने सम्भोग और विप्रलम्भ दो ही शृङ्गार के भेद बताए हैं । किन्तु धनञ्जय के अनुसार तीन भेद हैं । धनिक अयोग और विप्रयोग दोनों का अन्तर्भाव विप्रलम्भ में करते हुए विप्रलम्भ को शब्द-सामान्यवाचक स्वीकार करते हैं और अयोग एवं विप्रयोग को उसीका विशेष रूप बतलाते हैं । [ख] कारिका में विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि जब सामान्यवाचक शब्दो का विशेष अर्थों में प्रयोग किया जाता हैं तब लक्षणा माननी पड़ती हैं । किन्तु यहाँ लक्षणा करना अभीष्ट नहीं है । क्योंकि उसमें यह सम्भाव्य है कि 'विप्रलम्भ' शब्द अपने मुख्यार्थ का वाचक मान लिया जाता [ग] विप्रलम्भ का शाब्दिक अर्थ है 'वञ्चना' । जो नायक द्वारा किए गए संकेतस्थल पर उसके न पहुँचने पर तथा नायिका के वहाँ पहुँचने पर नायककृत प्रवञ्चना के लिए प्रयुक्त होता है । इस प्रकार **संशय** एवं **अनर्थ** के निराकरण के लिए कारिका में विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है ।

१. अयोग शृङ्गार और उसकी अवस्थाएँ—

उन [शृङ्गार के भेदों] में 'अयोग' वहाँ होता है जहाँ दो नवयौवन से युक्त

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः ।

योगः=अन्योन्यस्वीकारः, तदभावस्तु=अयोगः । पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद् देवीपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव, दैवाद् गौरीशिवयोरिवासमागमः=अयोगः ।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१ ॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥ ५२ ॥

परस्पर अनुरक्त मन वाले [एक चित्त] नायक एवं नायिका में प्रकृष्ट रूप से अनुराग के रहने पर भी परतन्त्रतावश [माता-पिता आदि के कारण] या दैववश उनके एक दूसरे से दूर रहने के कारण समागम नहीं हो पाता ॥ ५०-५१ ॥

'योग' का अर्थ है [नायक एवं नायिका द्वारा परस्पर एक दूसरे को अपना लेना [=समागम]; और उस [समागम] के अभाव को ही 'अयोग' कहते हैं। वह अयोग परतन्त्रतावश या तो देवी [=स्वपत्नी] के आधीन होने से अथवा पिता आदि के आधीन होने से नहीं हो पाता; जैसे 'रत्नावली' नाटिका में [देवी वासवदत्ता के अधीन होने के कारण] सागरिका का वत्सराज के साथ और [पिता-माता के अधीन होने के कारण] मालती का माधव के साथ मिलन नहीं हो पाता। इसी प्रकार दैववश होने वाले अयोग का उदाहरण पार्वती एवं भगवान् शंकर का मिलन न हो पाना है।

परिष्कार—[क] योग का प्राग्भाव ही अयोग है और विप्रयोग उसका प्रध्वंसाभाव है। इसी अभिप्राय से 'योगः' का अर्थ 'अन्योन्यस्वीकारः' किया है। [ख] इस अयोग के तीन कारण हो सकते हैं १. देवी, २. पिता आदि या ३. दैव। इन्हीं तीनों विप्रकर्ष का क्रमशः उदाहरण वत्सराज-सागरिका, मालती-माधव और गौरी एवं शिव से घनिक देते हैं। पहला उदाहरण 'रत्नावली' से दूसरा 'मालतीमाधव' से और तीसरा 'कुमारसम्भव' से है, जहाँ भगवान् शंकर के प्रतिज्ञा कर लेने के कारण दैववश दोनों का संयोग नहीं हो पाता जो पञ्चमसर्ग तक उपनिबद्ध है। [ग] इस प्रकार सभी संस्करणों में 'दैवपित्राद्यायत्तत्वात्' पाठ ठीक नहीं है यह 'देवीपित्रा' ही होना चाहिए जैसा की आड्यार लाइब्रेरी के संस्करण में है।

उस [अयोग] की दस अवस्थाएँ होती हैं। पहले उन [नायक-नायिका] में १. अभिलाष; फिर २. चिंतन; उसके बाद ३. स्मृति, फिर ४. गुणकथन; तदुपरान्त ५. उद्वेग; फिर ६. प्रताप; ७. उन्माद; ८. संज्वर; ९. जडता और १० मरण अवस्थाएँ होती हैं। इनमें उत्तरोत्तर दुरवस्था बढ़ती जाती है; अर्थात् बाद वाली अवस्था पूर्व की अवस्थाओं से अधिक दुःखदायिनी होती हैं ॥ ५१-५२ ॥

अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते[1] सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात् सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥' [शाकु० १.१९]

विस्मयो यथा—

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥'

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरन् ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।

अभिलाष—

उन [दस अवस्थाओं] में [समागम रूप] स्पृहा को 'अभिलाष' कहते हैं। वह तब उत्पन्न होती है जब सर्वाङ्ग सुन्दर प्रियतम को देख या सुन लिया जावे। उसके भी [अनुभाव रूप] तीन भेद होते हैं १. विस्मय; २. आनन्द और ३. साध्वस [=भय]। [नायक अथवा नायिका रूप प्रियतम का] दर्शन साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा या इंद्रजाल आदि माया के द्वारा होता है। उसका श्रवण सखी के द्वारा, गीत के द्वारा या मागध आदि के द्वारा गुणकीर्तन से होता है ॥ ५३-५४ ॥

अभिलाष का उदाहरण, जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में [शकुन्तला को देखने पर राजा दुष्यन्त के मन में इस प्रकार अभिलाष उत्पन्न हो जाता है]—

'निस्सन्देह यह [शकुन्तला] क्षत्रिय के द्वारा विवाह्योग्य है; नहीं तो भला मेरा यह संयत-चित्त क्योंकर इसकी ओर लालायित हो उठता; क्योंकि संदेहास्पद स्थलों में सत्पुरुषों के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।'

[i] **विस्मययुक्त अभिलाष** का उदाहरण, जैसे—

'युवक उस कृशाङ्गी के स्तनों को देखकर [उसकी पीनता के कारण आश्चर्यान्वित होते हुए] अपना सिर हिला रहा है; मानो वह उन दोनों स्तनों के बीच में गड़ी हुई अपनी दृष्टि को [हिला-हिलाकर] उखाड़ना चाहता है।

[ii] **आनन्दयुक्त अभिलाष** का उदाहरण, जैसे 'विद्धशालभञ्जिका' में [नायिका को देखकर नायक की आनन्दोक्ति इस प्रकार है]—

'जरा परकोटे के अग्रभाग पर दृष्टि तो डालो और विचार करो कि आकाश के बिना ही मृग [लाच्छन] विहीन अर्थात् निष्कलङ्क यह कौन चन्द्रमा है, जो सफेद पके

---

१. 'काम्ये' इति वा पाठः ।

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना–
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥' [विद्ध० १.३१]

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥ [कुमार० ५.८५]

यथा वा—

'व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥' [कुमार० ८.२]

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् ।

हुए लवलि-फल के समान अपनी स्वच्छ किरणों को दिखेरता हुआ सुधा सेवन में तत्पर उपवन के चकोरों से आस्वादित है ।'

[iii] **सम्भ्रम से युक्त अभिलाष** का उदाहरण 'कुमारसम्भव' में [प्रियतम दर्शनजन्य कम्प और प्रस्वेद से सम्भ्रमित पार्वती का वर्णन इस प्रकार है]—

'उन [भगवान् शङ्कर] को साक्षात् देखकर पर्वतराज [हिमालय] की पुत्री [पार्वती] की कोमल एवं कृश अङ्ग-यष्टि काँपने लगी । जाने के लिए उठाए हुए पैर को उन्होंने जहाँ का तहाँ रोक लिया । इस प्रकार प्रवाह मार्ग में अकस्मात् पहाड़ आ-जाने से क्षुब्ध हुई नदी के समान वह न तो आगे बढ़ सकीं और न तो ठहर ही सकीं ।'

अथवा, जैसे ['कुमारसम्भव' में ही पार्वती के सम्भ्रम युक्त अभिलाष का वर्णन इस प्रकार है]—

'यद्यपि पार्वती भगवान् शंकर के कुछ पूँछने पर उत्तर नहीं देती थीं और उनके आँचल पकड़ लेने पर उठकर जाना चाहती थीं एवं सोने के समय मुँह फेरकर सोती थीं तथापि वे भगवान् शंकर को अच्छी ही लगती थीं तथा उनमें रति की वृद्धि ही करती थीं ।'

[प्रस्तुत श्लोक दश० २.१६ में भी उद्धृत है] ।

चिन्ता आदि [अन्य अवस्थाओं] का वर्णन अनुभाव और विभावों के साथ पहले [दश ४.८-३३ में] ही किया जा चुका है ॥

स्पष्ट होने के कारण 'गुणकीर्तन' का व्याख्यान नहीं किया गया है ।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम् ॥ ५५ ॥
महाकविप्रबन्धेषु[1] दृश्यते तदनन्तता ।

दिङ्मात्रं तु—

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥ ५६ ॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोगः—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥ ५७ ॥
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

प्राप्तयोरप्राप्तिः=विप्रयोगः । तस्य द्वौ भेदौ—मानः, प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः—प्रणयमानः; ईर्ष्यामानश्चेति ।

आचार्यों ने प्रायः इन्हीं दस अवस्थाओं का निदर्शन किया है । वैसे तो महाकवियों के प्रबन्धों में इन अवस्थाओं की अनन्तता देखी जाती है ॥ ५५-५६ ॥

इस प्रकार इन अवस्थाओं का सामान्य रूप से दिग्दर्शन किया जा रहा है [विस्तार से वर्णन कामसूत्र आदि ग्रन्थों में है]—

[प्रियतम को] देखकर या [उसके गुणों का] श्रवण कर जब अभिलाषा उत्पन्न होती है तो उस अभिलाषा से क्या [समागम की] उत्सुकता नहीं होती; फिर प्रियतम के न प्राप्त होने पर क्या निर्वेद नहीं होता, अत्यधिक चिन्ता से क्या ग्लानि नहीं होती ? ॥५६-५७॥

[अयोग की दशा में] छिपकर अनुराग किया जाना आदि अन्य बातों का ज्ञान वात्स्यायन के कामसूत्र से कर लेना चाहिए ।

२. विप्रयोग-शृंगार

[एक दूसरे के प्रेम में आसक्त होने से] परस्पर अत्यन्त दृढ़ विश्वास वाले नायक-नायिकाओं के वियुक्त हो जाने का नाम 'विप्रयोग' है । यह दो प्रकार का होता है ? एक मानजनित और दूसरा प्रवास-जनित । मान भी दो प्रकार का होता है प्रणयमान एवं दूसरा ईर्ष्या-मान ॥ ५७-५८ ॥

परस्पर मिले हुए नायक नायिका का अलग हो जाना ही 'विप्रयोग' है । उसके दो भेद हैं—[अ] मान-विप्रयोग और [आ] प्रवास-विप्रयोग । मान-विप्रयोग भी दो प्रकार का होता है—(क) प्रणयमान और (ख) ईर्ष्यामान ।

---

१. 'प्रयोगेषु' इति वा पाठः । २. 'कोपावेशित' 'कोपोपहित' इति वा पाठौ ।

तत्र प्रणयमानः स्यात् कोपावसितयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

प्रेमपूर्वको वशीकारः= प्रणयः , तद्भङ्गे मानः=प्रणयमानः । स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥' [उत्तर० ३.३७]

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥' [श्रीमुञ्जस्य]

[अ] मान-विप्रयोग—

(क) प्रणयमान—

मान के भेदों में 'प्रणयमान' उसे कहते हैं जिसमें कोप के कारण दोनों का पृथकत्व हो जाता है ॥

प्रेम से वशीभूत होने का नाम 'प्रणय' है। इसके भङ्ग होने से जो मान [कलह] होता है उसे 'प्रणयमान' कहते हैं, और वह नायक एवं नायिका दोनों में हो सकता है ।

(i) **उनमें नायक में होने वाले प्रणयमान** का उदाहरण, जैसे 'उत्तररामचरित' में [वनदेवी वासन्ती राम को पुरानी याद दिला रही हैं]—

'इसी लतागृह में आप सीता के मार्ग को देखते हुए उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे; और वे हंसों से कौतुक कर गोदावरी नदी के बालुकामय तट पर बड़ी देर तक रुकी रह गईं ? [वहाँ से लौटकर] आती हुई सीता ने आपको कुपित हुआ सा देखकर [आपको प्रसन्न करने के लिए] उन्होंने कातरता के साथ कमल की कली के समान हाथों की अञ्जलि बाँधकर बड़े भोलेपन से प्रणाम किया था ।'

(ii) नायिकागत प्रणयमान का उदाहरण वाक्पतिराजदेव के मङ्गल श्लोक में इस प्रकार है—

'प्रणयकुपित देवी [पार्वती] को देख सम्भ्रम एवं आश्चर्य युक्त त्रिभुवन गुरु [=तीनों लोकों के पूज्य देव] भगवान् शङ्कर भय से तत्क्षण उनके चरणों पर अवनत हो गए । भगवान् शङ्कर के अवनत होने पर गङ्गा [रूपी अपनी सौत] को देखकर, और भी प्रकुपित हो पार्वती जी ने उन्हें चरणों से ठुकरा दिया । इस प्रकार ठुकराए जाने आदि के कारण विरूपता को प्राप्त भगवान् शङ्कर की दैन्यावस्था आप लोगों की रक्षा करे ।'

उभयोः प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआण दोण्ह वि अलिअपसुत्ताणं माणइंताणं ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो । [गाथा० १.२७]
('प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः कः मल्लः ॥')

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥ ५९ ॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधाऽऽनुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सति । अन्यासङ्गस्तु

(iii) [नायक एवं नायिका] दोनों के प्रणयमान का उदाहरण 'गाथा-सप्तशती' में इस प्रकार है—

[रात्रि में शैय्या पर] 'प्रणय-कोप के कारण मान धारण करके एक दूसरे की आवाज सुनने के लिए कान लगाये, निश्चल एवं सांस रोककर बनावटी नींद में सोये हुए नायक-नायिका में कौन मल्ल [तगड़ा] निकला ?'

परिष्कार—नायक एवं नायिका एक दूसरे के अपराध पर मान कर बैठते हैं । प्रणय-कुपित होने के कारण एक ही शय्या पर सोकर भी निश्चल भाव से सांस रोककर कृत्रिम निद्रा में सो रहे हैं । दोनों का आकर्षण परस्पर है; क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के शब्द को सुनने के लिए कान लगाए रहते हैं । दोनों का ही प्रणयमान पराकाष्ठा पर है किन्तु कौन किसे मनावे यही ठन गई है । इसी बात को सबेरे सखी नायिका से पूँछ रही है कि सोए हुए दोनों में कौन मल्ल अर्थात् तगड़ा निकला अर्थात् किसने अपना मान अन्त तक नहीं छोड़ा ?

(ख) ईर्ष्यामान

प्रिय को किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त सुनकर अनुमान कर एवं स्वय देखकर स्त्रियों में जो कोप होता है वह ईर्ष्याकुल मान है । इनमें से सुनना तो सखी के मुख से होता है; और [प्रियकृत अपराध का] अनुमान तीन प्रकार से होता है—१. [प्रिय द्वारा की गई] स्वप्न की बड़बड़ाहट से; २. [प्रिय के शरीर में अन्य नायिका कृत] संभोग—चिह्नों को देखकर और ३. भूल से [बातचीत के प्रसंग में] अन्य नायिका का नाम ले लेने से । चाक्षुष-प्रत्यक्ष [आँख से साक्षात् देख लेने] को ही 'देखना' कहते हैं ॥५९-६०॥

अपने प्रिय को किसी अन्य नायिका में अनुरक्त हुआ जानकर 'ईर्ष्यामान' होता है । यह केवल स्त्रियों में ही होता है । [प्रिय की] अन्य नायिका में यह आसक्ति या तो

श्रुतो वाऽनुमितो वा दृष्टो वा स्यात् । तत्र श्रवणं सखीवचनात्, तस्या विश्वास्यत्वात् ।

यथा ममैव—

'सुभ्रूस्त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥' [धनिकस्य]

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

'निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ॥' [रुद्रस्य]

सुनी गई होती है, या अनुमान की गई होती है अथवा प्रत्यक्ष रूप से देखी गई होती है ।

[क] इनमें सुनना तो सखी के मुख से होता है; क्योंकि वह विश्वास के योग्य होती है । जैसे मेरा [=धनिक का] ही श्लोक इस प्रकार है—

[सखी द्वारा प्रिय की अन्यासक्ति को सुनकर किये गये ईर्ष्यामानवती नायिका को नायक समझा रहा है]—'हे सुन्दर भौंहों वाली ! तुम्हारा हृदय तो मक्खन के समान कोमल ठहरा । अतः दुष्ट-मन्त्रणा देने वाले, झूठे ही तुम्हारे हितैषी बनने वाले एवं ऊपर ही ऊपर मीठी-बात बोलने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा तुम हम पर कुपित कर दी गयी हो । हे मृगनयनी ! [मेरे कहने से] एक क्षण के लिए भी जरा इस विषय पर विचार तो करो कि वास्तव में तेरा हितैषी कौन है ? क्या वह धाय की लड़की [जिसने हमारे बारे में तुम्हें सन्देहास्पद किया है] ? अथवा तेरी सखियाँ ? या मेरे मित्र ? अथवा स्वयं मैं ?'

[ख] अनुमानतः ज्ञात ईर्ष्यामान के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(i) स्वप्न की बड़बड़ाहट [में अन्य नायिका का नाम आ जाने के कारण अनुमानतः अन्यासक्ति को जान जाने वाली ईर्ष्यामानवती नायिका] का उदाहरण रुद्र कवि के मङ्गल श्लोक में इस प्रकार है—

[भगवान् कृष्ण कह रहे हैं जलक्रीड़ा के समय] जल में डुबकी लगाकर मैंने काम-वश उस सखी का आलिङ्गन कर लिया'—यह झूठी बात आज किसने तुमसे कह दी । हे राधे ! तुम अनायास ही क्यों कुपित हो रही हो ?—इस प्रकार स्वप्न की बड़बड़ाहट में शय्या पर सोये हुए [भगवान् कृष्ण] के वचन को सुनकर रुक्मिणी ने किसी बहाने से [भगवान् कृष्ण के] जिस कण्ठालिङ्गन को शिथिल कर दिया वह कण्ठालिङ्गन आप लोगों की रक्षा करे ।'

भोगाङ्कानुमितो यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥' [शिशु० ११.३४]

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणंती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥' [गाथा० ९६१]
('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता ॥')

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥' [श्रीवाक्पतिराजदेवस्य]

(ii) संभोग के चिह्नों को देखकर अनुमान के द्वारा अन्यासक्ति जानकर ईर्ष्यामान करने वाली नायिका का उदाहरण माघ में इस प्रकार है—

['अन्य नायिका के] नवीन नखक्षतों से चिह्नित अंग को कपड़े से [ढँककर] छिपाते हो और फिर दन्तक्षतयुक्त अधर को हाथ से ढँकते हो; किन्तु प्रत्येक दिशा में अर्थात् सब तरफ फैलने वाले एवं दूसरी रमणी के सङ्ग को बतलाने वाले नव-सम्मर्दनोत्पन्न-गन्ध को किससे [ढँककर] छिपा सकते हो ? [अर्थात् उसे किसी प्रकार नहीं छिपा सकते । अतएव इस गन्ध से तुम्हारा परस्त्री संभोग करना स्पष्टतः अनुमित होता है] ।'

[प्रस्तुत उदाहरण दश० २.२५ में भी उद्धृत है] ।

(iii) गोत्रस्खलन [=बातचीत में भूल से अन्य नायिका का नाम ले लेने] से अनुमित अन्यासक्ति का उदाहरण ['गाथासप्तशती' में इस प्रकार है]—

[नायक से नायिका की सखी ने कहा]—'रे [अन्यासक्त] दुष्ट ! मजाक में तुम्हारे द्वारा अन्य स्त्री का नाम ले लेने पर छल-कपट से अनभिज्ञ तुम्हारी पत्नी वस्तुतः रोने ही लगी । जरा अपने परिहास का यह नतीजा तो देखो ।'

[ग] प्रत्यक्ष रूप से देख लेने से ईर्ष्यामान का उदाहरण वाक्पतिराजदेव श्रीमुञ्ज के श्लोक में इस प्रकार है—

'प्रणयकुपित देवी [पार्वती] को देख सम्भ्रम एवं आश्चर्यान्वित तीनों लोकों के पूज्यदेव [=त्रिभुवनगुरुः] भगवान् शङ्कर भय से तत्क्षण उनके चरणों में अवनत हो गये । भगवान् शङ्कर के अवनत होने पर गङ्गा [रूपी अपनी सौत] को देखकर और भी प्रकुपित हो पार्वतीजी ने उन्हें चरणों से ठुकरा दिया । इस प्रकार ठुकराए जाने आदि के कारण विरूपता को प्राप्त भगवान् शङ्कर की दैन्यावस्था आप लोगों की रक्षा करे ।'

एषाम्—

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ६१ ॥

[एषाम्=श्रुतानुमितदृष्टान्यसङ्गप्रयुक्तानांमुक्तानां मानानां मध्ये उत्तरोत्तरं मानो गुरुः=क्लेशेन निवार्यो भवतीत्यर्थः । तत्=मानम् । उपाचरेत्=निवारयेत्]

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ ६२ ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ ६३ ॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

तत्र प्रियवचः साम । यथा ममैव—

'स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।

इन [श्रुत, अनुमित एवं दृष्ट अन्यासक्ति से होने वाले ईर्ष्यामानों] में—

क्रमशः पूर्ववर्ती की अपेक्षा उत्तरवर्ती [मान] अधिक होता जाता है । इन मानों का उपशमन छः प्रकार के इन उपायों से करना चाहिए—१. साम, २. भेद, ३. दान, ४. प्रणति, ५. उपेक्षा एवं ६. रसान्तर से ॥ ६१ ॥

['एषाम्' अर्थात् ऊपर बताए हुए श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट अन्यासक्ति के कारण होने वाले मान उत्तरोत्तर अधिक गुरु अर्थात् कठिनाई से दूर करने योग्य होते हैं । तम् अर्थात् मान को । उपाचरेत् अर्थात् निवारित करना चाहिए] ।

उन [उपायों] में मधुर वचन बोलने को 'साम' कहते हैं । उस [नायिका] की सखियों को अपनी ओर मिला लेने को 'भेद' कहते हैं । किसी बहाने से आभूषण इत्यादि का देना ही 'दान' कहलाता है, और चरणों में प्रणिपात ही 'नति' है । 'साम' इत्यादि [इन चारों] उपायों के विफल हो जाने पर [नायिका के प्रति] उदासीनता दिखलाना ही 'उपेक्षा' है । शीघ्रता में उत्पन्न भय तथा हर्ष आदि के द्वारा [नायिका के] कोप का उपशमन 'रसान्तर' कहलाता है । [जहां तक उनकी कोप-चेष्टाओं का सम्बन्ध है उन स्त्रियों की कोप-चेष्टाओं का वर्णन पहले [दश० २.२५-२८ में] ही किया जा चुका है ॥ ६२-६४ ॥

(i) उन [उपायों] में प्रिय वचनों के द्वारा प्रसन्न करने को 'साम' कहते हैं; जैसे मेरे [=धनिक के] ही श्लोक में [नायिका को नायक इस प्रकार मना रहा है]—

हे सुन्दर अङ्गों वाली ! तुम्हारा मुख चन्द्र स्मित रूपी ज्योत्स्ना से सारे विश्व को धवलित कर रहा है, तेरी दृष्टि चारों तरफ मानों अमृत-रस बरसा रही है, तेरा वह

वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥' [धनिकस्य]

यथा वा—

'इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥' [शृङ्गारतिलके]

नायिकासखीसमावर्जनभेदो यथा ममैव—

कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाऽद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥' [धनिकस्य]

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे—

मुहुरुपहसितामिवालिनादै-
र्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।

शरीर इस प्रकार समस्त दिशाओं में मधुर लावण्य बिखेर रहा है, फिर भी तुम्हारे हृदय में आज कठोरता ने पता नहीं कहाँ से स्थान ग्रहण कर रखा है ।'

अथवा, जैसे [शृङ्गारतिलक ३ में]—कोई नायक नायिका से इस प्रकार कह रहा है—

'हे प्रिये ! विधाता ने नीलकमल से तुम्हारे नेत्रों का निर्माण किया है, लाल-कमल से मुख का, कुन्द के श्वेत पुष्पों से दाँतों का, नए-नए लाल-पल्लवों से अधर का एवं चम्पा की पंखुड़ियों से अन्य अङ्गों का निर्माण किया है, पर पता नहीं तेरे हृदय को पत्थर से क्यों बना दिया ?

(ii) नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेने वाले 'भेद' नामक उपाय का उदाहरण, जैसे मेरा [=धनिक का] ही पद्य इस प्रकार है—

[नायक अपनी प्रेयसी से कहता है]—'हे सुन्दर भौंहों वाली ! अनेक बार तुम्हारी आज्ञा का उल्लङ्घन करके भी जब मैं तुम्हारे सामने नत हो जाता था तो तुम मुस्करा-कर मुझे हाथ से उठाकर रोष छोड़ देती थीं । किन्तु आज यह तुम्हारा कोई दूसरे ही प्रकार का निस्सीम क्रोध मालूम पड़ रहा है जिसमें प्रिय सखियों की प्रेममयी वाणी भी व्यर्थ ही हो रही है ।'

(iii) आभूषण आदि को देकर प्रसन्न किए जाने वाले 'दान' नामक उपाय का उदाहरण जैसे—'माघ' में—कोई मानिनि नायिका नायक से कहती है—

'भ्रमरों की गुञ्जार से जिसका बार-बार मानो उपहास किया जा रहा है, ऐसी

अधिरजनि[1]गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ॥' [शिश० ७.५५]

पादयोः पतनं नतिर्यथा—

'णेउरकोडिविअग्गं चिउरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं पउत्थमाणं उम्मोअंति व्विअ कहेइ ॥ [गाथा० २.८८]
(नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥)

उपेक्षा तदवधीरणं यथा—

'उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥'
'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।'[किरात० ९.३९-४०]

कली को मुझे क्यों दे रहे हो ? हे शठ ! उस [सपत्नी] के घर रात्रि में जाकर आज तुमने यह बड़ी भारी कली [=कलह] तुमने मुझे पहले ही दे दी है । [अतएव एक कली [=कलह] के दे चुकने पर पुनः दूसरी कली [=पुष्प कलिका] देना व्यर्थ ही है] ।'

(iv) पावों में पड़कर प्रसन्न किए जाने वाले 'नति' नामक उपाय का उदाहरण गाथासप्तशती २.८८ में इस प्रकार है—

'पैरों पर पड़े प्रिय के केश प्रिया के नूपुरों के अग्रभाग में उलझे हुए, मानों यह बतला रहे हैं कि प्रिया का मानी हृदय अब मान से उन्मुक्त हो गया है ।'

(v) प्रिय के प्रति उदासीनता दिखलाकर मानभङ्ग के 'उपेक्षा' नामक उपाय का उदाहरण 'किरातार्जुनीय' में इस प्रकार है—

[प्रस्तुत श्लोक में उस नायिका और उसकी सखी का वार्तालाप है जो मान का परित्याग कर अपने पति के पास नहीं गई]—

'**नायिका**—सखि ! उस [शठ] से स्पष्ट कह देना, कुछ भी बात छिपा न रखना । **सखी**—[नहीं सखि ! यह ठीक नहीं] पति के साथ क्रूरता का व्यवहार अच्छा नहीं है । **नायिका**—अच्छा तो फिर किसी प्रकार समझा बुझाकर यहाँ बुला लाना । **सखी**—अप्रियकारी उस व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करके क्यों बुलाया जाय [यह भी तो ठीक नहीं] । **नायिका**—तो फिर उसके पास जाना ठीक नहीं, वहाँ जाने का प्रयोजन ही क्या है ? **सखी**—ओ अपने को सुन्दरी मानने वाली ! प्रिय के विषय में मान ही क्या ? अर्थात् मान नहीं करना चाहिए ।'

१. 'वसतिमुपगतेन' इति वा पाठः ।

रभसत्रासहर्षादे रसान्तरात् कोपभ्रंशो यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृतश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥' [धनिकस्य]

अथ प्रवासविप्रयोगः—

कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात् प्रवासो भिन्नदेशता ॥ ६४ ॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता ।
स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

आद्यः कार्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद् भूतभविष्यद्वर्तमानतया

(vi) शीघ्रता, भय एवं हर्ष आदि के द्वारा किसी अन्य रस की उत्पत्ति के कारण कोप के नाश का उदाहरण मेरा [=धनिक का] ही श्लोक इस प्रकार है—

'अपने अपराध के व्यक्त हो जाने पर नायक ने अपनी नायिका को प्रसन्न करने के लिए अनेक उपायों का सहारा लिया पर जब किसी से भी सफलता न मिल सकी तो बहुत देर तक सोंचने पर [उसके मन में आया कि इसको भयभीत किया जाय, और] एकाएक निपुणतापूर्वक बनावटी घबराहट दिखलाते हुए 'यह पीछे क्या है, पीछे क्या है'—इस प्रकार से नायिका को भयभीत करके [झट मौका पाकर वह शठ नायक] मधुर मुसकान के साथ पास में सटे हुए नायिका का आलिङ्गन करने लगा ।'

[प्रस्तुत उदाहरण दश० २.४० में भी उद्धृत है] ।

[आ] प्रवास-विप्रयोग—

अब 'प्रवास-विप्रयोग' का निरूपण करते हैं—

(क) किसी कार्य से, (ख) किसी सम्भ्रम [या गड़बड़ी] से अथवा (ग) शाप के कारण नायक एवं नायिका का अलग अलग प्रदेशों में रहना 'प्रवास-विप्रयोग' है । उस [प्रवास जनित विप्रयोग] में दोनों ही [नायक एवं नायिका] में [एक का दूसरे को याद कर] अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता एवं [बालों को न सँवारने के कारण] केशों का बढ़ जाना आदि अनुभाव पाए जाते हैं ॥ ६४-६५ ॥

(क) कार्यवशात् प्रवास

इनमें से पहला [कार्यवशात् होने वाला] प्रवास बुद्धिपूर्वक अर्थात् समझ-बूझ कर होता है; और वह तीन प्रकार का होता है—१. भावी २. वर्तमान तथा ३. भूत ॥ ६५ ॥

इसमें पहला कार्यजनित-प्रवास [किसी कारण से होता है, जैसे नायक का] समुद्र यात्रा पर जाना अथवा नौकरी आदि कार्यवशात् परदेश में जाने के लिए प्रवृत्त होने से जाना हुआ होने के कारण (i) भूत, (ii) भविष्य एवं (iii) वर्तमान—तीन प्रकार का

त्रिविधः ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा—

'होंतपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम् ।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीआ ॥' [गाथा० १.४७]
(भविष्यत्पथिकस्य जाया आपृच्छनजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहं गृहेण प्रियविरहसहनशीलाः ॥)

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥' [अमरु० १२]

यथा वा तत्रैव—

'देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।

होता है ।

(i) उनमें से **भविष्य में परदेश जाने वाले** नायक के प्रवास का उदाहरण 'गाथा-सप्तशती' में इस प्रकार है—

[प्रवत्स्यपतिका की सखी नायक से कहती है]—'परदेस जाने वाले पति की प्रिय के विरह को सहन करने में समर्थ विरहिणियों के घर में जा-जाकर भावी विरहजन्य आशङ्का से यह पूँछती है कि प्रिय के विरहकाल में या प्रिय के विदा [=आपृच्छन] होते समय प्राणों के धारण करने का रहस्य क्या है ?

(ii) **वर्तमान में प्रवास पर जाने वाले** गच्छत्प्रवास का उदाहरण 'अमरुशतक' में इस प्रकार है—

[परदेस जाने वाले नायक से नायिका कहती है]—'हे प्रिये ! एक प्रहर बीतने पर या दो प्रहर को, या तीसरे प्रहर अथवा सारा दिन बीत जाने पर सायंकाल यहाँ लौट आओगे न,—इस प्रकार आँसू तथा उसाँसों-भरी वाणी कहकर वह बाला सौ दिन में प्राप्य देश को जाने वाले प्रिय को जाने से रोक रही है ।'

अथवा, जैसे वहीं 'अमरुशतक' में—

[किसी विरही पथिक की दशा का वर्णन इस प्रकार है]—'सैकड़ों प्रदेशों, सैकड़ों नदियों, पहाड़ों और जंगलों के पार पड़ी हुई प्रिया यत्न करने पर भी दिखाई नहीं पड़

उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥'[अमरु० ९९]

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥' [उ० मेघ० २३]

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात् त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वाऽबुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव संभ्रमजः प्रवासः । यथोर्वशीपुरूरवसं विक्रमोर्वश्याम् । यथा च कपालकुण्डलापहृतायां

सकती—यह जानते हुए भी वह विरही पथिक गर्दन उठा-उठाकर, पञ्जों के बल खड़े हो-होकर, आँसू भरी आँखों को पोंछ-पोंछकर, किसी ध्यान में तल्लीन होकर बार-बार उसी दिशा की ओर देख रहा है ।'

(iii) **भूतकाल में प्रवास पर गए हुए** गतप्रवास का उदाहरण 'मेघदूत' में इस प्रकार है—

[मेघ के प्रति यक्ष की उक्ति है]—'अथवा, हे सौम्य ! मलिन वस्त्रों वाली गोद में वीणा रखकर मेरे नामों से सम्बन्धित पदों को गाने की चेष्टा करती हुई, किन्तु [इतने में ही मेरी स्मृति उद्बुद्ध हो जाने के कारण] नेत्रों के आँसूओं से भींगी वीणा को किसी प्रकार पोंछ लेने पर भी स्वरचित स्वरों के उतार-चढ़ाव [=मूर्च्छना] को बार-बार भूलती हुई [मेरी प्रिया तुम्हें दृष्टिगोचर होगी] ।'

प्रिय प्रवास से लौटकर आ रहा हो [=आगच्छत्], अथवा आ गया हो [=आगत] तब तो वह प्रवास ही नहीं होता; और जब प्रिय लौटकर आने वाला हो [=एष्यत्], तब तो गतप्रवास [भूतकालीन प्रवास] से उसका कोई अन्तर ही नहीं होता । अतः 'प्रवास-विप्रयोग' को तीन प्रकार का ही मानना युक्तिसङ्गत है ।

(ख) सम्भ्रमवशात् प्रवास—

दूसरा [अर्थात् सम्भ्रम या गड़बड़ी से होने वाला] प्रवास दैवी उपद्रव अथवा मनुष्य आदि के द्वारा किए गए विप्लव से सहसा उत्पन्न हो जाता है ॥

सम्भ्रम से होने वाला प्रवास चाहे वह [भूकम्प आदि] उत्पातों से, बिजली गिरने से या आँधी आदि उपद्रवों के कारण दिव्य हो; अथवा शत्रु द्वारा घेरा डालने से उत्पन्न उपद्रव के कारण अदिव्य [=मानुषी] हो, वह अबुद्धिपूर्वक [बिना सोच-समझकर] होने के कारण एक ही प्रकार का होता है । [दैवी उपद्रव से होने वाले सम्भ्रम-प्रवास के] उदाहरण स्वरूप 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी एवं पुरुरवा का [गंधर्वों के द्वारा]

मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ।

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७ ॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे । कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

तत्र नायिकां प्रति नियमः—

प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥ ६८ ॥

वियुक्त होना है; और [मानुषी उत्पात से होने वाले सम्भ्रम-प्रवास के] उदाहरण स्वरूप 'मालतीमाधव' में कपालकुण्डला द्वारा मालती के अपहरण हो जाने के कारण मालती और माधव का प्रवसित होना है ।

(ग) शापवशात्-प्रवास—

नायक एवं नायिका दोनों के समीप रहने पर भी जो स्वरूप बदल जाने से देशान्तरगमन [का भाव] होता है उसे 'शापज-प्रवास' कहते हैं ॥ ६६ ॥

जैसे, कादम्बरी' में शाप के कारण वैशम्पायन [=पुण्डरीक] तथा महाश्वेता का वियोग है ।

प्रवास-विप्रयोग और करुण में भेद—

[नायक या नायिका में से] एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा यदि विलाप करे तो वहाँ शोक रूप भाव एवं करुण रस ही होगा, प्रवास-विप्रयोग रूप शृङ्गार रस नहीं; क्योंकि वहाँ शृङ्गार का आलम्बन ही विद्यमान नहीं है और यदि वह पुनरुज्जीवित हो जाता है तो करुण [=इतरः न] नहीं होगा बल्कि वहाँ शृङ्गार रस ही होगा ॥ ६७ ॥

जैसे 'रघुवंश' के अष्टम सर्ग में इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप करुण ही है [प्रवास-विप्रयोग रूप शृङ्गार नहीं] । 'कादम्बरी' में तो पहले करुण है; किन्तु आकाशवाणी के श्रवण के पश्चात् पुण्डरीक एवं महाश्वेता का वियोग 'प्रवास-विप्रयोग' रूप शृङ्गार ही है ।

उन [अयोग एवं विप्रयोग के भेदों] में नायिका की अवस्था के सम्बन्ध में नियम इस प्रकार है—

प्रणयमान [विप्रयोग] एवं अयोग में विरहोत्कण्ठिता नायिका होती है; और 'प्रवास-विप्रयोग' में प्रोषितप्रिया एवं ईर्ष्यामान [से उत्पन्न विप्रयोग] में कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और खण्डिता नायिका होती है ॥ ६८ ॥

अथ संभोगः—

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६९ ॥

यथोत्तररामचरिते—

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥' [उत्तर० १.२७]

अथवा । 'प्रिये, किमेतत्—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' [उत्तर० १.३५]

---

३. सम्भोग-शृङ्गार

अब सम्भोग-शृङ्गार का निरूपण करते हैं—

जहाँ विलासी नायक एवं नायिका एक दूसरे के अनुकूल होकर, परस्पर अवलोकन एवं स्पर्श आदि का परस्पर उपभोग करते हैं वहाँ आनन्द एवं उल्लास से युक्त 'सम्भोग-शृङ्गार' होता है ॥ ६९ ॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में राम सीता से कहते हैं कि यह वही स्थान है जहाँ—

'अत्यन्त निकटता के कारण कपोलों को एक दूसरे से पृथक् न करते हुए, बहुत धीरे-धीरे कुछ इधर-उधर बिना क्रम के ही बातें करते हुए और रोमाञ्च के साथ आलिङ्गन में एक दूसरे की बाहों में बाहें डाले हुए हम लोग सारी रात योंही बिता देते थे, उस रात्रि के बीतते हुए प्रहरों का हमें कुछ पता भी न चल पाता था ।'

अथवा, जैसे वहीं 'उत्तररामचरित' में ही—'प्रिये ! यह क्या है ?'

'प्रिये ! तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रियसमूह को मूढ करने वाला विकार मेरे अन्तःकरण को जड़ीकृत कर देता है, एवं ताप पैदा करता है । यह [विकार] सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है ।'

[यह श्लोक दश० ४.२६ में भी उद्धृत है] ।

---

१. 'निराश्रयात्' इति•वा पाठः ।

मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ।

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७ ॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे । कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

तत्र नायिकां प्रति नियमः—

प्रणययोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥ ६८ ॥

वियुक्त होना है; और [मानुषी उत्पात से होने वाले सम्भ्रम-प्रवास के] उदाहरण स्वरूप 'मालतीमाधव' में कपालकुण्डला द्वारा मालती के अपहरण हो जाने के कारण मालती और माधव का प्रवसित होना है ।

(ग) शापवशात्-प्रवास—

नायक एवं नायिका दोनों के समीप रहने पर भी जो स्वरूप बदल जाने से देशान्तरगमन [का भाव] होता है उसे 'शापज-प्रवास' कहते हैं ॥ ६६ ॥

जैसे, कादम्बरी' में शाप के कारण वैशम्पायन [=पुण्डरीक] तथा महाश्वेता का वियोग है ।

प्रवास-विप्रयोग और करुण में भेद—

[नायक या नायिकी में से] एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा यदि विलाप करे तो वहाँ शोक रूप भाव एवं करुण रस ही होगा, प्रवास-विप्रयोग रूप शृङ्गार रस नहीं; क्योंकि वहाँ शृङ्गार का आलम्बन ही विद्यमान नहीं है और यदि वह पुनरुज्जीवित हो जाता है तो करुण [=इतरः न] नहीं होगा बल्कि वहाँ शृङ्गार रस ही होगा ॥ ६७ ॥

जैसे 'रघुवंश' के अष्टम सर्ग में इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप करुण ही है [प्रवास-विप्रयोग रूप शृङ्गार नहीं] । 'कादम्बरी' में तो पहले करुण है; किन्तु आकाशवाणी के श्रवण के पश्चात् पुण्डरीक एवं महाश्वेता का वियोग 'प्रवास-विप्रयोग' रूप शृङ्गार ही है ।

उन [अयोग एवं विप्रयोग के भेदों] में नायिका की अवस्था के सम्बन्ध में नियम इस प्रकार है—

प्रणयमान [विप्रयोग] एवं अयोग में विरहोत्कण्ठिता नायिका होती है; और 'प्रवास-विप्रयोग' में प्रोषितप्रिया एवं ईर्ष्यामान [से उत्पन्न विप्रयोग] में कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और खण्डिता नायिका होती है ॥ ६८ ॥

अथ संभोगः—

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६९ ॥

यथोत्तररामचरिते—

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥' [उत्तर० १.२७]

अथवा । 'प्रिये, किमेतत्—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' [उत्तर० १.३५]

---

३. सम्भोग-शृङ्गार

अब सम्भोग-शृङ्गार का निरूपण करते हैं—

जहाँ विलासी नायक एवं नायिका एक दूसरे के अनुकूल होकर, परस्पर अवलोकन एवं स्पर्श आदि का परस्पर उपभोग करते हैं वहाँ आनन्द एवं उल्लास से युक्त 'सम्भोग-शृङ्गार' होता है ॥ ६९ ॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में राम सीता से कहते हैं कि यह वही स्थान है जहाँ—

'अत्यन्त निकटता के कारण कपोलों को एक दूसरे से पृथक् न करते हुए, बहुत धीरे-धीरे कुछ इधर-उधर बिना क्रम के ही बातें करते हुए और रोमाञ्च के साथ आलिङ्गन में एक दूसरे की बाहों में बाहें डाले हुए हम लोग सारी रात योंही बिता देते थे, उस रात्रि के बीतते हुए प्रहरों का हमें कुछ पता भी न चल पाता था ।'

अथवा, जैसे वहीं 'उत्तररामचरित' में ही—'प्रिये ! यह क्या है ?'

'प्रिये ! तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रियसमूह को मूढ करने वाला विकार मेरे अन्तःकरण को जड़ीकृत कर देता है, एवं ताप पैदा करता है । यह [विकार] सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है ।'

[यह श्लोक दश० ४.२६ में भी उद्धृत है] ।

---

१. 'निराश्रयात्' इति वा पाठः ।

यथा च ममैव—

'लावण्यामृतवर्षिणी प्रतिदिशं कृष्णागरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरं तन्वङ्गि दूरोन्नते ।
नासावंशमनोज्ञकेतकतनुर्भ्रूपत्रगर्भोल्लसत्-
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते ॥' [धनिकस्य]

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥ ७० ॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः ।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत् किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥ ७१ ॥

ग्राम्याः संभोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते । यथा रत्नावल्याम्—

अथवा, जैसे मेरा [= धनिक का] ही श्लोक इस प्रकार है—

[नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नायक की उक्ति है]—'हे कृशाङ्गी ! वर्षाकालीन घटाओं के समान बहुत दूर तक ऊँचा उठा हुआ तुम्हारा यह स्तनों का भार प्रत्येक दिशा में लावण्यरूपी अमृत की वर्षा करने वाला है एवं काले अगरु के समान श्याम वर्ण का है । [केतकी का पुष्प वर्षाकाल में जलवृष्टि से विकसित होता है। इधर स्तनमण्डल रूपी मेघमण्डल के लावण्यरूपी जलवृष्टि से विकसित हो रहे हैं] हे प्रिये ! तुम्हारी नासिका-वंश केतकी पुष्प के समान है । सुन्दर भौहों की बनावट ही उसके पत्ते हैं, माथे पर लगा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हेला युक्त तेरी अलकावली ही पुष्प रस के पान करने वाले भौंरे है ।'

सम्भोग-शृङ्गार में नायिकाओं की शृङ्गारिक चेष्टाएँ

इस [सम्भोग शृंगार] में अपने प्रियतमों के प्रति नायिकाओं की लीला इत्यादि दस चेष्टाएँ हुआ करती हैं; जो दाक्षिण्य, मृदुता एवं प्रेम के अनुरूप होती हैं ॥ ७० ॥

उन चेष्टाओं का नायक-विषयक द्वितीय प्रकाश में उदाहरण-सहित प्रदर्शन कर दिया गया है ।

नायक नायिका के साथ चाटुकारिता युक्त मधुर वचनों से और कला एवं क्रीड़ा आदि के साथ रमण करे । किन्तु इन क्रियाओं के साथ ग्राम्य [निन्दित] कार्य नहीं करना चाहिए और न तो नर्म [हँसी-मजाक] को भ्रष्ट करने वाला आचरण ही करना चाहिए ॥ ७१ ॥

रङ्गमञ्च पर ग्राम्य सम्भोग का दिखाना तो निषिद्ध ही है । फिर से उसके निषेध का तात्पर्य यह है कि काव्य में भी इसका वर्णन नहीं करना चाहिए । जैसे 'रत्नावली' नाटिका में [नायक के नागरिक आचरण का उदाहरण वासवदत्ता के प्रति राजा की उक्ति में इस प्रकार है]—

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥' [रत्ना० १.२१]

इत्यादि ।

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ॥

अथ वीरः—

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥ ७२ ॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते = भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य,

---

'हे प्रिये ! कामदेव की पूजा में व्यस्त तेरे हाथ से छुआ हुआ यह अशोक ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इसमें कोई अत्यधिक कोमल किसलय निकल आया हो ।' इत्यादि ॥

इस प्रकार नायक, नायिका, कैशिकी-वृत्ति, नाटक-नाटिका आदि के लक्षणों के प्रसङ्ग में बतलाए गए; कवि-परम्परा से अवगत एवं औचित्य की सम्भावना के अनुरूप स्वकल्पित [विषयों] को ध्यान में रखते हुए कवि को शृङ्गार रस का उपनिबन्धन करना चाहिए ॥

२. वीर रस

अब **वीर** [नामक दूसरे] रस का निरूपण करते हैं—

प्रताप, विनय, अध्यवसाय [=प्रयास या लगन], सत्त्व [=बल], मोह, अविषाद, नय [=नीति], विस्मय एवं पराक्रम आदि [विभावों] से होने वाले उत्साह [नामक स्थायी भाव] से वीर रस होता है; और, वह वीर रस दया, युद्ध तथा दान [रूप अनुभावों] के उपश्लेष से [दयावीर, युद्धवीर एवं दानवीर रूप से] तीन प्रकार का हो जाता है । इसमें मति, गर्व, धृति और प्रहर्ष [सञ्चारी भाव] होते हैं ॥ ७२ ॥

प्रताप एवं विनयादि [विभावों] के द्वारा उत्पन्न [= विभावित] होकर करुणा, युद्ध, दान आदि अनुभावों के द्वारा अनुभावित [=व्यक्त] होकर तथा गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति एवं वितर्क आदि व्यभिचारीभावों के द्वारा [पराकाष्ठा को पहुँच कर] भावित होता हुआ जो उत्साह [नामक] स्थायीभाव सहृदयों के चित्त [रूप भूमि] में विस्तार को प्राप्त होता हुआ आनन्द प्रदान करता है, उन रसिकों द्वारा आस्वादित [वह उत्साह] ही वीर रस है । [यह तीन प्रकार का होता है—१. दयावीर, २. रणवीर और ३. दानवीर] । उनमें से [क्रमशः] दयावीर का उदाहरण 'नागानन्द' में जीमूतवाहन का उत्साह है; २. युद्धवीर का उदाहरण 'महावीरचरित' में भगवान् राम का

दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम्–'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' [महावीर० २.३५] इति ।

'खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धिविकसद् वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं
नियन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद् वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥'

यथा च ममैव—

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥' [धनिकस्य]

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिना वीराणामपि भावात् त्रैधं प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरः, अन्यथा रौद्रः ।

उत्साह है; और ३. दानवीर का उदाहरण परशुराम और बलि आदि का दानविषयक उत्साह है । [परशुराम के दान-सम्बन्धी उत्साह का उदाहरण 'महावीरचरित' में इस प्रकार है]—'सातों समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का निष्कारण [बिना किसी दृष्टफल की इच्छा के] दान कर देना जिन परशुराम के 'त्याग' [=दान] की सीमा है ।'

[और बलि की दानवीरता का उदाहरण इस प्रकार है]—

[प्रस्तुत श्लोक में राजा बलि से दान लेते समय भगवान् वामन के विराट रूप का वर्णन किया गया है] 'भगवान् के शरीर की छोटी-छोटी ग्रन्थियों ने जब सन्धि के बन्धन से मुक्ति पाई अर्थात् जब भगवान् का शरीर बढ़ने लगा तो उनके विकसित वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि चमकने लगी, निकलते हुए नाभिकमल के कुड्मल कुटीर से गम्भीर साम-ध्वनि होने लगी । अपने याचक को इस प्रकार पाकर उत्सुकतापूर्वक और आनन्द के साथ राजा बलि उन्हें देखने लगे । इस प्रकार क्रमशः बढ़ने की महिमा वाला, अतएव आश्चर्यकारी भगवान् विष्णु का शरीर आप लोगों की रक्षा करे ।

अथवा, जैसे मेरा ही श्लोक [दानवीरता के विषय में] इस प्रकार है—

'यह वही राजा बलि है, जिसने लक्ष्मी के स्तनमण्डल के कुङ्कुम से अरुणिम हुए भगवान् विष्णु के हाथों को भिक्षा का पात्र बनाया था ।'

[इस प्रकार प्रतापसमुद्भूत उत्साह का उदाहरण दिया जा चुका] विनय आदि से होने वाले उत्साह का उदाहरण पहले [द्वितीय प्रकाश के प्रारम्भ में] दिया गया है वहीं उसका अनुसन्धान करना चाहिए । वीर के और भी भेद प्रतापवीर, गुणवीर, आवर्जन-वीर आदि भी हो सकते हैं इसलिए 'त्रेधा वीर' का कथन प्रायः के अभिप्राय से युक्त है । [युद्धवीर और रौद्र रस में परस्पर भेद यह है कि] पसीना आना, मुख तथा नेत्रों का [क्रोध के मारे] लाल हो जाना आदि क्रोध के अनुभाव आश्रय में न हों । अन्यथा

अथ बीभत्सः—

बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः ।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥ ७३ ॥

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्ध्यत्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण-उद्वेगी=बीभत्सः । यथा मालतीमाधवे—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ[1] पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥' [मालती०५.१६]

[उनके रहने पर] रौद्र रस होता है [क्योंकि वीर रस में उत्साह ही स्थायी होता है ।]

३. बीभत्स रस

अब **बीभत्स** [नामक तीसरे] रस का निरूपण करते हैं—

'जुगुप्सा' नामक स्थायीभाव से उत्पन्न होने वाला रस बीभत्स-रस होता है । यह तीन प्रकार का है—१. कृमि, दुर्गन्ध तथा नमन आदि विभावों से जायमान 'उद्वेगी-बीभत्स' होता है । २. रुधिर, अँतड़ियों, हड्डी, मज्जा तथा मांस आदि विभावों से जायमान 'क्षोभण-बीभत्स' होता है । ३. जघन, स्तन आदि [रमणीके अवयवों] के प्रति वैराग्य से होने वाला घृणा 'शुद्ध-बीभत्स' होता है । यह नाक एवम् मुँह के सिकोड़ लेने [=विकूणन] आदि अनुभावों से युक्त होता है । इसमें आवेग, व्याधि एवं शङ्का आदि [व्यभिचारीभाव] हुआ करते हैं ७३ ॥

१. हृदय को बिलकुल ही अच्छे लगने वाले कौड़े, सड़न [पीब, कै] आदि विभावों से उद्भूत हुए जुगुप्सा नामक स्थायीभाव को पुष्ट करने वाले लक्षणों से युक्त 'उद्वेगी-बीभत्स' होता है । जैसे 'मालतीमाधव' में [किसी प्रेत को श्मशान में मांसभक्षण में लगा हुआ देखकर माधव उसकी बीभत्स चेष्टाओं का वर्णन कर रहा है]—

'पहिले खाल को फाड़-फाड़कर कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों में ऊँचे उभरे हुए अधिक मात्रा में सरलता से उपलब्ध, भयङ्कर-दुर्गन्धयुक्त सड़े हुए मांस को खा चुकने के बाद क्षुधा से आतुर दृष्टि से [मांस को ढूंढ़ने के लिए] आँखे फाड़कर देखता हुआ [हड्डियों में से मांस खींचने के लिए] दाँतों को निकाले-हुए, दरिद्र प्रेत गोद में रखे हुए मुर्दे के हड्डी के भीतर चिपटे हुए और गढ़ों में स्थित [=स्थपुटगत] कच्चे मांस को भी बिना किसी व्यग्रता के बड़े चाव से खा रहा है ।'

परिष्कार—यहाँ दरिद्र प्रेत एवं शव आलम्बन विभाव है; खाल को उधेड़ना, दुर्गन्ध और मांस का खाना आदि उद्दीपन है; और उसको देखने वाले का नाक बन्द करना, मुँह फेर लेना, थूकना आदि अनुभाव है, और माधव की उक्ति से अनुमित उद्वेग

---

१. 'पृथुच्छोप०' इति वा पाठः ।

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभावितः क्षोभणो बीभत्सः। यथा वीरचरिते—

'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलककङ्कणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
व्यालोलस्तनभारभैरवबपुर्दर्पोद्धतं[1] धावति॥' [महावीर० १.३५]

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धः=बीभत्सः। यथा—

'लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः॥'

न चायं शान्त एव विरक्तः—यतो बीभत्समानो विरज्यते।

आदि व्यभिचारीभाव हैं। इनसे पुष्ट होता हुआ जुगुप्सा नामक स्थायीभाव ही यहाँ 'उद्वेगी बीभत्स' हो गया है।

२. रुधिर, अंतड़ी, हड्डी और मज्जा एवं मांस आदि के देखने अर्थात् इन विभावों से होने वाले क्षोभ से उत्पन्न होने वाले रस को 'क्षोभण—बीभत्स-रस' कहते हैं। जैसे 'महावीरचरित' में [बीभत्स रूप से सामने भागती हुई ताड़का को देखकर लक्ष्मण विश्वामित्र से उसके बीभत्स रूप का वर्णन करते हुए पूँछते हैं कि यह कौन दौड़ रही है]—

'अँतड़ियों में पिरोये हुए बड़े-बड़े कपाल और [नलक अर्थात्] जङ्घा की हड्डियों से बने हुए, भयानक शब्द करने वाले कङ्कण [एवं अस्थियों से ही बने हुए] नाना प्रकार के आभूषणों की [परस्पर टकराहट की] ध्वनि से आकाश को शब्दायमान करती हुई; और पहिले [बहुत अधिक मात्रा में] पी जाने के बाद वमन किये हुये रक्त के कीचड़ से सने हुए [प्राग्भार अर्थात् वक्षस्थल आदि] ऊपरी भाग के बीचो-बीच भयङ्कर रूप से उठे हुए [भारी-भारी] हिलते हुए स्तनों के भार से भयङ्कर शरीर वाली दर्प से उद्धत होकर [यह कौन] दौड़ रही है?'

३. रमणीय लगने वाले भी, रमणी के जँघा तथा स्तन आदि [अवयवों] में वैराग्य से होने वाली घृणा 'शुद्ध-बीभत्स' रस है। जैसे [विरक्त व्यक्ति की उक्ति इस प्रकार है]—

'काम के वशीभूत-पुरुष युवतियों की लार को मुख की मदिरा समझता है। मांस के पिण्डों को पयोधर कहता है और हाड़, मांस के उठे हुए भागों को जँघा समझता है।'

यहाँ [वर्णित] विरक्त पुरुष को शान्त [रस से युक्त] नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका वैराग्य शान्ति के कारण नहीं है किन्तु घृणा उत्पन्न होने से इसे विरक्ति हुई है।

---

१. 'बन्धोद्धतम्' इति वा पाठः। २. 'घृणायुक्तः' इति वा पाठः।

अथ रौद्रः—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभ्रुकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै—
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः॥ ७४॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

'त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति॥' [महावीर० ३.४४]

वैरिवैकृताद् यथा वेणीसंहारे—

---

४. रौद्र रस

अब **रौद्र [नामक चौथे] रस** का निरूपण करते हैं—

मात्सर्य [=ईर्ष्या] और शत्रु द्वारा किए गए अपकार आदि विभावों से उत्पन्न हुए क्रोध [रूप स्थायीभाव] का परिपोष ही रौद्र रस कहलाता है। [मानसिक अनुभाव के रूप में उसके बाद उत्पन्न होने वाला] उसका साथी क्षोभ है; जो अपने ओष्ठ को चबाना, काँपना, भौहें टेढ़ी करना, पसीना आना, मुख का लाल होना एवं शस्त्र उठाना, डींग मारना [=आत्मश्लाघा], [हाथों से] कन्धे पर और [पैर से] जमीन पर चोट मारना, प्रतिज्ञा करना आदि [आङ्गिक एवं वाचिक अनुभावों तथा सात्त्विक भावों] से युक्त होता है। इसमें अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता तथा वेग आदि अनुभाव पाए जाते हैं॥ ७४॥

१. मात्सर्य विभाव से उत्पन्न होने वाले रौद्र का उदाहरण 'महावीरचरित' में इस प्रकार है—

[विश्वामित्र के प्रति परशुराम की उक्ति है]—'तुम चाहे ब्रह्मतेज को धारण करने वाले होओ अथवा स्वजात्योचित-क्षत्रियाचार के अनुकूल धनुर्धारी ही क्यों न होओ, [दोनो ही स्थितियों में मैं तुम्हारे तेज को समाप्त करने में सक्षम हूँ]। मैं अपने उग्र तप [के बल] से तुम्हारी तपस्या को जला दूँगा और [धनुर्धर रूप] विकल्प पक्ष में मेरा कुठार ही उचित कार्य करेगा।'

२. शत्रु द्वारा किए गए अपकार से उत्पन्न होने वाले रौद्र का उदाहरण 'वेणीसंहार' में इस प्रकार है—

[सूत्रधार की उक्ति के बाद भीमसेन यह कहते हुए प्रविष्ट होते हैं]—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥ [वेणी० १.८]

इत्येवमादिभिर्विभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषः=रौद्र । परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः ।

अथ हास्यः—

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात् परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ ७५ ॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानः=हासः, तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति, स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात् षड्विधः ।

आत्मस्थो यथा रावणः—

'लाक्षागृह की अग्नि, विषमिश्रित अन्न और सभा-प्रवेश इत्यादि के द्वारा हमारे प्राणों और धनराशियों पर प्रहार करके और पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र एवं केशों को खींचकर भी क्या मेरे जीते-जी धृतराष्ट्र के पुत्र जीवित रह सकते हैं।'

[यह श्लोक दश० ३.९ में भी उद्धृत है]।

इस प्रकार के [मात्सर्य आदि] विभावों के द्वारा होने वाले प्रस्वेद, रक्तवदन, रक्तनयन आदि अनुभावों तथा अमर्ष आदि व्यभिचारीभावों से उत्पन्न हुआ क्रोध का परिपोष ही 'रौद्र-रस' कहलाता है। रक्तवदन, रक्तनयन आदि के उदाहरण का 'महावीरचरित' तथा 'वेणीसंहार' आदि नाटकों में परशुराम, भीमसेन तथा दुर्योधन आदि के व्यवहारों में अनुसन्धान कर लेना चाहिए।

५. हास्य-रस

अब **हास्य** [नामक पाँचवें] रस का निरूपण करते हैं—

अपने अथवा दूसरे के विकृत आकार, वाणी तथा वेष आदि को देखकर जो हास होता है उस [हास रूप स्थायीभाव] का परिपोष 'हास्य-रस' कहलाता है। यह हास तीन प्रकृतियों वाला [अर्थात् तीन प्रकार के आश्रयों में रहने वाला] कहा गया है ॥ ७५ ॥

अपने अथवा दूसरे के विकृत वेष एवं भाषा आदि को देखकर इन विभावों के द्वारा उत्पन्न स्थायीभाव 'हास' होता है। उस हास के परिपोष रूप हास्य-रस के दो अधिष्ठान [आश्रय] होते हैं [१. आत्मस्थ और २. परस्थ], और वह उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के भेद से छः प्रकार का होता है।

१. आत्मस्थ-हास्य का उदाहरण ['उदात्तराघव' नाटक के कुलपत्यङ्क अर्थात् द्वितीय अङ्क में सन्यासी] रावण द्वारा कथित उक्ति में इस प्रकार है—

'जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः ।
रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥' [उदात्त०]

परस्थो यथा—

'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? नष्टस्य काऽन्या गतिः ? ॥'

'मेरे शरीर पर लगी हुई रूखी-भस्म-रज के द्वारा मानों चन्दन की धूलि का लेप किया गया है। [सन्यासी के रूप में] यज्ञोपवीत वक्षःस्थल पर हार का काम कर रहा है। ये उलझी हुई लम्बी जटाएँ कोमल केश-कलाप हैं; इन सारे रुद्राक्षों से शरीर पर रत्नों के वलयों की तुलना की जा सकती है तथा यह वल्कल ही सुन्दर रेशमी वस्त्र [=चित्रांशुक] है; ओह ! इस प्रकार [मुझ कामी ने] सीता की दृष्टि को लुभाने वाला कितना सुन्दर कामी-जनोचित शृङ्गारी-वेष-विन्यास कर रक्खा है।'

परिष्कार—सागरनन्दी कृत 'नाटकलक्षणरत्नकोश' के श्लोक तेरह में उद्धृत यह उदाहरण उदात्तराघव नाटक के कुलपत्यङ्क से उद्धृत बताया गया है। कुलपत्यङ्क इस नाटक का द्वितीय अङ्क है, जहाँ रावण ने सीता के अपहरणार्थ तपस्वी का वेष बना रक्खा है। जबकि उसे सीता को मनोहर लगने वाले कामी-जनोचित वेष का विन्यास करना चाहिए था। इस प्रकार कोई कामी किसी रमणी को आकृष्ट करने के लिए जैसे सुन्दर वेषभूषा धारण करता है वैसे ही मुझ सन्यासी वेषधारी रावण ने क्या खूब वेष-विन्यास कर रक्खा है। इस तरह यह अपने वेष-विन्यास को देखकर उत्पन्न होने वाले हास्य का उदाहरण है।

२. परस्थ-हास्य [दूसरे की विकृत वाणी एवं वेष को देखकर होने वाले हास्य] का उदाहरण इस प्रकार है—

गृहस्वामी—भिक्षुदेव ! क्या मांस खा रहे हैं ? **भिक्षु**—बिना मदिरा के मांस खाया भी तो क्या खाया। **गृहस्वामी**—तो क्या मदिरा भी चाहिए ? भिक्षु—मदिरा तो चाहिए ही किन्तु साथ साथ वाराङ्गना मिल जाय तो और भी अच्छा। **गृहस्वामी**—लेकिन वाराङ्गना तो पैसे से मिल पाएगी, आपके पास पैसा कहाँ है ? **भिक्षु**—धन की क्या कमी, चोरी और जुआ आबाद रहें। **गृहस्वामी**—ओह ! तो आप चोर और जुआड़ी भी हैं ? **भिक्षु**—अरे भाई ! जो नष्ट हो चुका है उसके लिए और चारा ही क्या है ?

स्मितमिह विकासिनयनं, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वरं विहसितं, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥
अपहसितं साश्रुाक्षं, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितोपहसिते, अधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

व्यभिचारिणश्चास्य—

निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च [1]सहचारिणः ।

अथाद्भुतः—

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद् विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ॥ ७८ ॥
कर्माऽस्य साधुवादाश्रुवेपथु[2]स्वेदगद्गदाः ।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ॥ ७९ ॥

यहाँ हास्य रस के इस प्रसङ्ग में] १. स्मित-हास्य उसे कहते हैं; जिसमें नेत्र कुछ खिल जायँ २. जिस हास्य में कुछ-कुछ दाँत भी दिखाई दे उसे 'हसित' कहते हैं। ३. 'विहसित-हास्य' वह है जिसमें हँसते समय कुछ मधुर स्वर भी होता है। ४. जिस हास्य में सिर भी हिलने लगता है उसे 'उपहसित' कहते हैं। ५. 'अपहसित' उसे कहते हैं जिस हास्य में हँसते-हँसते आँखों में आँसू भी आ जाए; और ६. जिस हास्य में सारा शरीर कँपने लग जाए उसे 'अतिहसित' कहते हैं। इनमें से क्रमशः दो-दो उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के होते हैं ॥ ७६-७७ ॥

अर्थात् अपने या दूसरे के विकृत वेष आदि को देखकर स्मित और हसित हास्य होना उत्तम-जन का हास्य है; विहसित तथा उपहसित हास्य होना मध्यमजन का हास्य है और अपहसित या अतिहसित हास्य होना अधम जन का हास्य है। इनके उदाहरण स्वयं देख लेना चाहिए।

और, इस हास्य रस के व्यभिचारीभाव ये हैं—

निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि तथा मूर्च्छा [अर्थात् जडता हास्य रस के] व्यभिचारी-भाव हैं ॥

६. अद्भुत रस

अब **अद्भुत** [नामक छठवें] रस का निरूपण करते हैं—

अलौकिक पदार्थों [के दर्शन-श्रवणादि] से 'अद्भुत' रस उत्पन्न होता है जो विस्मय नामक स्थायीभाव से परिपुष्ट होता है। साधुवाद [प्रशंसा करना], अश्रु, वेपथु [=कम्पन], प्रस्वेद, गदगद् वाणी आदि उसके कार्य [=अनुभाव] हैं। हर्ष, आवेग, और धृति आदि व्यभिचारीभाव हैं ॥ ७८-७९ ॥

१. 'व्यभि०' इति वा पाठः । २. 'वमथु' इति वा पाठः ।

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायि-भावो हर्षावेगादिभावितो रसः=अद्भुतः । यथा—

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्धत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्याप्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ॥'
[महावीर० १.५४]

इत्यादि ।

अथ भयानकः—

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्य[1]लक्षणः ॥

अर्थात् लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों के वर्णन आदि से विभावित होकर, साधुवाद आदि अनुभावों से परिपुष्ट होकर एवं हर्ष आवेग आदि व्यभिचारी भावों से भावित होकर विस्मय नामक स्थायीभाव ही 'अद्भुत-रस' कहलाता है।

जैसे ['महावीरचरित' में भगवान् राम के धनुष तोड़ देने पर बहुत देर तक उस धनुर्भङ्ग के शब्द की गूँज को देखकर विस्मित हुए लक्ष्मण इस प्रकार कहते हैं]—

'भुजदण्ड से उठाए गए भगवान् शङ्कर के धनुष के भङ्ग से उत्पन्न हुई टङ्कार-ध्वनि, जो आर्य [=श्रीरामचन्द्रजी] के बालचरित आरम्भ होने का डिण्डिम घोष [=ढिंढोरा या नगाड़ा] स्वरूप है, जिसके कारण ब्रह्माण्ड रूप पात्र के कपालसम्पुट [=दोनो भाग] पहले झट से [=द्राक्] प्रक्षिप्त होकर अब परस्पर मिल रहे हैं, और जिसकी पिण्डीभूत हुई शब्द-ध्वनि की चण्डिमा [=प्रचण्डता] उस ब्रह्माण्ड रूपी भाण्ड के अन्दर [=उदर] घूम रही है, इस प्रकार धनुर्भङ्ग की ध्वनि आज भी क्यों नहीं शान्त हो रही है ?' इत्यादि

परिष्कार—इस उदाहरण में लक्ष्मण का विस्मय स्थायीभाव है। टङ्कारध्वनि आलम्बन है। उसकी अतिदीर्घता आदि उद्दीपन हैं। इस प्रकार महिमा का वर्णन अनुभाव हैं और इस वर्णन से अनुमित हर्ष आदि व्यभिचारीभाव हैं। इन सबसे यहाँ अद्भुत रस की पुष्टि होती है।

७. भयानकरस

अब **भयानक** [नामक सातवें] रस का निरूपण करते हैं—

किसी जीव के डरावने स्वर या शरीर आदि को देखकर उत्पन्न होने वाले भय नामक स्थायीभाव का परिपोष ही 'भयानक-रस' है। सारे शरीर में कम्पन, पसीना आना, मुँह सूखना, रङ्ग का फीका पड़ जाना आदि इसके अनुभाव [=लक्षण:] होते हैं।

१. 'वैचित्त्य' इति वा पाठः ।

दैन्यसम्भ्रमसम्मोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥ ८० ॥

रौद्रशब्दश्रवणाद् रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः। तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः। दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः।

भयानको यथा—

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः।
यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥

यथा च रत्नावल्यां [२.३] प्रागुदाहृतम् [दश० २.५९]—'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि।

यथा—

'स्वगेहात् पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात् सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम्।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्राचकितधीः ॥'

दैन्य, भगदड़, किंकर्तव्यविमूढता एवं त्रास आदि व्यभिचारीभाव उसके सहोदर होते हैं ॥ ७९-८० ॥

भयावह शब्द को सुनने या डरावने प्राणी को देखने से उत्पन्न हुए भय [नामक] स्थायीभाव से उत्पन्न होने वाला भयानक-रस होता है। उसमें सम्पूर्ण शरीर में कँपकपी आदि का होना अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारीभाव हैं।

भयावह [ध्वनि] का उदाहरण इस प्रकार है—

'इस शस्त्र को छोड़कर, धीरे-धीरे कुबड़े की तरह दुबककर, किसी भी तरह यदि यहाँ से तुम जा सको तो चले जाओ।'

अथवा, जैसे 'रत्नावली' में [भयावह प्राणी के दर्शन से होने वाले त्रास के रूप में बन्दर के अश्वशाला से छूट जाने पर अन्तःपुर की भगदड़ का वर्णन] 'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि उदाहरण में पहले [दश० २.५९ पर] किया जा चुका है।

अथवा, जैसे [कोई कवि राजा से कहता है कि महाराज !]—

'आपकी विजययात्रा [की खबर सुनने] से चकित बुद्धिवाला शत्रु राजा डरके मारे अपने घर से मार्ग पर, मार्ग से घने जङ्गल में, वहाँ से भी सघन पेड़ों से घिरे पर्वत पर और वहाँ से भी [भागकर] गुफा में जाकर छिप गया। गुफाओं में रहते हुए भी उसने अपने शरीर के सभी अंगों को ऐसा सिकोड़ लिया मानो उनका एक अङ्ग दूसरे में प्रविष्ट होता जा रहा है, और इस प्रकार वह यह नहीं सोच पा रहा है कि आपके भय से वह कहाँ छिपे ?'

परिष्कार—प्रस्तुत उदाहरण में विजयी राजा आलम्बन, उसका पराक्रम उद्दीपन

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ[1] शोकात्मा करुणोऽनु तम्।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥ ८१ ॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ ८२ ॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षजः=करुणः, तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्, व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः।

इष्टनाशात् करुणो यथा कुमारसंभवे—

'अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥' [कुमार० ४.३]

इत्यादि रतिप्रलापः। अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्धनाद् यथा रत्नावल्याम्।

एवं शत्रु राजा का इधर-उधर भागना अनुभाव है; तथा इस वर्णन से अनुमित दैन्य आदि व्यभिचारीभाव हैं। इन सबसे यहाँ भयानक रस की पुष्टि होती है।

८. करुण रस

अब **करुण** [नामक आठवें] रस का निरूपण करते हैं—

इष्ट के नाश एवं अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले शोक नामक स्थायीभाव से परिपुष्ट 'करुण-रस' होता है। उसके बाद निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तंभ एवं प्रलाप आदि इससें अनुभाव पाए जाते हैं। निद्रा, अपस्मार [=मिरगी], दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं ॥ ८१-८२ ॥

इष्ट के अर्थात् बन्धु-बान्धवों आदि के विनाश से और **अनिष्ट की** प्राप्ति से अर्थात् बन्धन [कैदी] होना आदि के कारण उत्पन्न शोक के परिपोष [=प्रकर्ष] से उत्पन्न 'करुण-रस' होता है। कारिकागत 'तम् अनु' [=उसके बाद] इस शब्द से उसके अनुभाव निःश्वास आदि का कथन किया गया है; और निद्रा अपस्मार आदि उसके व्यभिचारी-भाव बताए गए हैं।

१. इष्टनाश से होने वाले करुण-रस का उदाहरण 'कुमारसम्भव' में इस प्रकार है—

'हे प्राणनाथ ! तुम जीवित हो ? इस प्रकार कहकर उठती हुई उस [रति] ने अपने सामने पृथ्वी पर पड़ी हुई पुरुष के आकृति वाली भगवान् शङ्कर के कोप रूपी अग्नि की भस्म-मात्र को देखा।'—इत्यादि रति के प्रलाप में इष्टनाश होने वाला करुण रस है।

२. अनिष्ट की प्राप्ति से होने वाले करुण रस का उदाहरण 'रत्नावली' में सागरिका के बन्धन से उत्पन्न [सागरिका का शोक] है।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ८३ ॥

स्पष्टम् ।

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥ ८४ ॥

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' [ना० शा० १६.१] इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् काव्यलक्षणानि । 'साम भेदः प्रदानं च' [ना० शा० १९.१०७] इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि ।

॥ इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
'रसविचारो' नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

परिष्कार—करुण रस का स्थायी भाव शोक होता है; और विनष्ट बन्धु-बान्धव आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं; एवम् उसका दाहकर्म आदिक उद्दीपन होता है । प्रस्तुत कुमारसम्भव के उदाहरण में भस्मीभूत कामदेव आलम्बन विभाव है । उसके शरीर की भस्म आदि उद्दीपन विभाव हैं; रति का प्रलाप आदि अनुभाव हैं; तथा उससे अनुमित दैन्य, ग्लानि आदि व्यभिचारीभाव हैं । इन सबसे परिपुष्ट रति का शोक ही करुण-रस का उदाहरण बन गया है ।

इनसे अतिरिक्त भावों का, उपर्युक्त भावों में ही अन्तर्भाव—

प्रीति, भक्ति आदि भावों का और शिकार खेलना, जूआ खेलना आदि रसों का अन्तर्भाव हर्ष एवं उत्साह आदि में ही स्पष्ट रूप से हो जाता है । अतः उनका पृथक् रूप से निरूपण नहीं किया गया है ॥ ८३ ॥

इस कारिका का अर्थ स्पष्ट है ।

परिष्कार—रुद्रट आदि कुछ आचार्यों ने प्रीति [=स्नेह], भक्ति आदि को भी स्थायीभाव के रूप में स्वीकार किया है । इसी प्रकार किन्ही आचार्यों ने मृगया, द्यूत आदि को भी अलग से रस की कोटि में परिगणित किया है । धनञ्जय के मत से सभी अन्य भावों या रसों का अन्तर्भाव उपर्युक्त विवेचन में ही हो जायगा ।

[नाट्य अथवा काव्य के] छत्तीस 'लक्षण' नामक भूषण आदि का और इक्कीस 'सन्ध्यन्तर' नामक साम आदि का भी अन्तर्भाव [उपमा आदि] अलङ्कारों में तथा उन [हर्ष एवं उत्साह आदि] भावों में ही हो जायगा ॥ ८४ ॥

विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान तथा गुणकीर्तन इत्यादि [नाट्यशास्त्रोक्त] छत्तीस काव्य के 'लक्षण' कहे गए हैं; और साम भेद एवं दान आदि इक्कीस 'सन्ध्यन्तर' कहे गए हैं । उपमा आदि अलङ्कारों में तथा हर्ष; उत्साह आदि भावों में ही इनका अन्तर्भाव हो जाने के कारण उनका अलग से प्रतिपादन यहाँ नहीं किया गया है ।

अथ ग्रन्थोपसंहारः—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥ ८५ ॥

परिष्कार—आचार्य भरत के अनुसार [ना० शा० १६.१-४] काव्य को रस, अलङ्कार आदि से युक्त तो करना ही चाहिए ओर इसके अतिरिक्त छत्तीस लक्षणों से भी समन्वित करना चाहिए । ये छत्तीस लक्षण इस प्रकार है— १. भूषण, २. अक्षरसंहति, ३. शोभा, ४. अभिमान, ५. गुणकीर्तन, ६. प्रोत्साहन, ७. उदाहरण, ८. निरुक्त, ९. गुणानुवाद १०. अतिशय, ११. सहेतुः १२. सारूप्य, १३. मिथ्याध्यवसाय, १४. सिद्धि, १५. पदोच्चय, १६. आक्रन्द, १७. मनोरथ, १८. आख्यान, १९. याच्ञा, २०. प्रतिषेध, २१. पृच्छा, २२. दृष्टान्त, २३. निर्भासन, २४. संशय, २५. आशीः, २६. प्रियोक्ति, २७. कपट, २८. क्षमा, २९. प्राप्ति, ३०. पश्चात्ताप ३१. अर्थानुवृत्ति, ३२. उपपत्ति, ३३. युक्ति, ३४. कार्य, ३५. अनुनीति, ३६. परिदेवन । किन्तु धनञ्जय के अनुसार इनका उपमादि अलङ्कारों में ही अन्तर्भाव हो जायगा ।

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के अनुसार [ना० शा० १९.१०७] काव्य को सन्धियों से युक्त तो करना ही चाहिए किन्तु साम आदि सन्ध्यन्तर से भी युक्त करना चाहिए । ये इक्कीस सन्ध्यन्तर इस प्रकार हैं—१. साम, २. भेद, ३. गण्ड, ४. दान, ५. वध, ६. प्रत्युत्पन्नमतित्व, ७. गोत्रस्खलित, ८. साहस, ९. भय, १०. ह्री [लज्जा], ११. माया, १२. क्रोध, १३. ओज, १४. संभरण, १५. भ्रान्ति, १६. हेत्वधारण, १७. दूत, १८. लेख, १९. स्वप्न, २०. चित्र, २१. मद । इनका अन्तर्भाव हर्ष, उत्साह आदि में हो जायगा । इसीलिए इनका पृथक् विवेचन ग्रन्थकार के द्वारा नहीं किया गया है ।

॥ इस प्रकार विष्णु के पुत्र धनिक द्वारा 'दशरूपक' के ऊपर रचित **दशरूपकावलोक** नाम की व्याख्या में 'रस-विचार' नामक चतुर्थ प्रकाश की सुधाकर मालवीय कृत 'विद्वद्विनोदिनी' नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥

ग्रन्थोपसंहार

[वस्तु] रमणीय हो या निन्दनीय, उत्तम हो या अधम, उग्र हो या आह्लादकारी, गहन हो या विकृत [अर्थात् किसी भी प्रकार की क्यों न हो किन्तु] कोई भी वस्तु अथवा अवस्तु लोक में ऐसी नहीं है जो कवि तथा भावक [रसिक] जन की भावना के विषयीभूत होने पर रस तथा भाव को न प्राप्त कर सके ॥ ८५ ॥

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥ ८६ ॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

॥ समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः ॥

मुञ्जराज की विद्वत्-परिषद में विदग्धता [पण्डित्य की धाक्] को प्राप्त करने वाले, विष्णु के पुत्र, धनञ्जय ने विद्वानों के हृदयों में आनन्द का उपनिबन्धन करने के लिए इस 'दशरूपक' [नामक ग्रन्थ] की रचना की है ॥ ८६ ॥

॥ इस प्रकार धनञ्जयकृत दशरूपक समाप्त हुआ ॥

एवं निरूपितमिदं गहनं च तत्त्वं
तत्तद् विचार्यवचनैश्च नयैश्च सम्यक् ।
तद्दोषदृष्टिमपहाय विवेचनीयं
विद्वद्भिरित्यविरतं प्रणतोऽस्मि तेषु ॥ १ ॥

मया सद्वाऽसद्वा यदिह गदितं मन्दमतिना
किमेतच्छक्यं वाऽध्यवसितुमपि स्वल्पमतिना ।
तदेवं यत्किंचिद्गदितमिह विख्यातमहिमा
प्रतापोऽयं सर्वो विकसति तु पित्रोश्चरणयोः ॥ २ ॥

यः काव्यशासनसुधार्णवकर्णधारः
शास्त्रान्तरेषु निखिलेष्वपि मर्मभेत्ता ।
योऽत्र श्रमः किल कृतः तु सुधाकरेण
प्रीतोऽमुनाऽस्तु स हि रामकुबेरनामा ॥ ३ ॥

भागीरथ्यास्तटे रम्ये लङ्का क्षेत्रे सुशोभने ।
पूर्णतामाप विश्वेशकृपयेयं कृतिर्मम ॥ ४ ॥

यत्कारुण्यविलासेन प्रपेदे पूर्णतामियम् ।
व्याख्यैनामर्पये पद्माभिधायास्तु कराम्बुजे ॥ ५ ॥

ग्रन्थरूपो मदीयोऽयं वाग्व्यापारसुशोभनः ।
अनेन प्रीयतां देवो गोविन्दो भक्तवत्सलः ॥ ६ ॥

॥ इस प्रकार धनञ्जय कृत दशरूपक की, महाकवि **पं० रामकुबेर मालवीय** (भूतपूर्व साहित्यविभागाध्यक्ष, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) के आत्मज **डा० सुधाकर मालवीय** कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥

■

परिशिष्ट १.

दशरूपावलोके प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नामानि

अमरुशतकम्—✡११७, ११८, ✡१३२, १३३, १३४, ✡१३६, ✡१३७, १३८–१४०, ✡१४७, १४८, १४९, ✡१६६, १७४, २४८, २५५, २६२, ३३२ ।

✡आनन्दवर्धनः—२७६, २८७ ।

✡इतिहास-समुच्चयः—१०० ।

उत्तरचरितम् [उत्तररामचरितं वा]—६७, ६८, ९२, ✡११८, १२३, १९६, १९८, २००, २४१, २५७, ✡२६२, ३१०, ३२४, ३३५ ।

उदात्तराघवम्A—१७९, १८७, २०३, २४३, २६१, ✡२६४ ।

कर्पूरमञ्जरी—१९६ ।

कादम्बरी—३३४ ।

कामसूत्रम्—✡२१३, ३२२ ।

काव्यनिर्णयःA—२९६-२९७ ।

काव्यालङ्कारः [रुद्रटस्य]—२७९ ।

किरातम्—२५७, ✡३३० ।

कुमारसम्भवम्—✡१२७, ✡१३०, १५४, १५५, १५७, १६२, ✡१७०, ✡२४३, २५६, २६४, २६७, २८५, ३१४, ३२२ ।

✡गाथासप्तशती (हालकृत)—१२७, १२८, १३२, १५२, १५३, १५८, १५९, १७१, २८६, २८७, ३२५, ३२७, ३३०, ३३२ ।

✡चौरपञ्चाशिका—२५४ ।

छलितरामम्A—६६, ✡१८८, ✡१९३, १९६, २०१ ।

तरङ्गदत्तम्A—२१३ ।

त्रिपुरदाहःA—२२१ ।

धनिकः [= ममैव, अवलोककृत्]—११६, १२२, १२६, १२९, १३५, १५५, १५६, १५९, १६१-१६५, १७३, २३२, २५८, २५९, ३२६–३२९, ३३१, ३३६ ।

✡ध्वन्यालोकः—२७७, २८७, २९० ।

नागानन्दम्—१०७-१०९, १२१, १२६, १४२, २७९, २९३, ✡३१२ ।

✡नाट्यशास्त्रम्—१२०, २१४, २२१, २२९, २३०, २३३, २३४, २९८, ३०३ ।

पद्मगुप्तः [नवसाहसाङ्कचरितकर्ता]—१६३ ।

पाण्डवानन्दम्A—१९५ ।

पुष्पदूषितकम्A—२१३ ।

प्रियदर्शिका [प्रियदर्शना वा]—१७५, १८०, ✡३१२ ।

बृहत्कथा [गुणाढ्यनिर्मिता]—९८, २६९ ।

✡बृहदारण्यकोपनिषद्—३०७ ।

भट्टबाणः—१५८ ।

भरतमुनिः—११९, २१४, २२१ ।

भर्तृहरिः—२३० ।

भर्तृहरिशतकम्—(नीति०) १०३, ✡(वैराग्य०) २३७, ✡(वैराग्य०) २४१, ✡(शृङ्गार०) २७३ ।

भवभूतिः—११२ ।

✡भामहः—५ ।

✡भोजप्रबन्धः—११९, २४५ ।

✡महानाटकम्—१०८, १२४, २५१ ।

✡ताराङ्कितानां नामोल्लेखः धनिकेन न विहितः । A = अनुपलब्धम् ।

4. **దామోదరభట్టు** : అలంకారకరమాల
5. **వల్లభభట్టు** : అలంకార కౌముది
6. **నృసింహుడు** : అలంకారసారము
7. **వెంకటాచార్యుడు** : అలంకారకౌస్తుభము
8. **చంద్రకాంత** : అలంకారసూత్రము – తర్కాలంకారం
9. **అలంకారచంద్రిక** (గ్రంథం)
10. **అలంకారకారిక** (గ్రంథం)
11. **బాలకృష్ణుడు** : అలంకార కౌముది, అలంకారమయూఖము, అలంకారానుక్రమణిక, అలంకార ప్రకరణము, అలంకార ప్రకాశిక, అలంకారానుక్రమణిక, అలంకార సారసంగ్రహము, అలంకార గ్రంథము, అలంకార వాదార్థము, అలంకార సారము.
12. **త్రిమల్లభట్టు** : అలంకారమంజరి
13. **దేవశంకరుడు** : అలంకార మంజూష
14. **శివరాముడు** : అలంకార సముద్గకము
15. **నీలకంఠుడు** : కావ్యోల్లాసము
16. **శ్రీనివాసుడు** : కావ్యసారసంగ్రహత్రయము
17. **రామచంద్రన్యాయవాగీశ** : కావ్యచంద్రిక
18. **నారాయణుడు** : కావ్యవృత్తరత్నావళి
19. **నరసింహశాస్త్రి** : కావ్యకంటకోద్ధారము

ఇంకా తాళపత్రగ్రంథాది రూపాలలో ఆయా పుస్తకాలయాలలో వందల కొలది అలంకార శాస్త్ర గ్రంథాలు ఉన్నాయి. స్వతంత్రరచనలు ఎన్ని ఉన్నాయో

వాటికి నాలుగైదురెట్లు వ్యాఖ్యానగ్రంథాలు ఉన్నాయి. కొన్ని వ్యాఖ్యాన గ్రంథాలు స్వతంత్ర రచనలకంటె కూడా సారవత్తరమైనవి. ఉదాహరణగా అలంకార సర్వస్వానికి జయరథుడు వ్రాసిన **'విమర్శిని'** వంటి అతి ప్రామాణికాలూ, పరమగహనాలూ అయిన వ్యాఖ్యానాలు చూపవచ్చును.

దండి, అతని కాలము, రచనలు : "అవంతిసుందరీ" అనే గద్య కావ్యాన్ని దండి రచించినట్లు ఒక ప్రసిద్ధి ఉన్నది. ఈ కథకీ **దశకుమారచరిత్ర**లో ఉన్న అవంతిసుందరీ కథకీ చాలా పోలికలు ఉండడంచేత, దశకుమారచరిత్రలోని కథనే తీసుకుని ఎవరో దండి సమకాలికులో అర్వాచీనులో ఈ కావ్యాన్ని వ్రాసి ఉండవచ్చునని చెప్పడానికి అవకాశం లేకపోలేదు. ఒకే కథ తీసుకొని ఒక కవి రెండు కావ్యాలు వ్రాయడుకదా? ఏమైనా ఈ కావ్య ప్రారంభంలో దండి స్వీయ చరిత్ర చెప్పుకొన్నట్లు ఉన్నది. దండియే చెప్పుకున్నా, మరెవరో వ్రాసిన ఈ కథకు కొంత ప్రామాణ్యం ఇవ్వడానికి, ప్రబల విరుద్ధ ప్రమాణం మరొకటి ఏదైనా కనబడేదాకా, అభ్యంతరం ఉండకూడదు.

సంగ్రహంగా ఈకథ ఇలా ఉన్నది : పల్లవవంశానికి చెందిన సింహవిష్ణువు కాంచీపురప్రాంతాన్ని పరిపాలిస్తున్నప్పుడు ఒక గంధర్వుడు వచ్చి ఒక చక్కని శ్లోకంతో అతనిని ప్రశంసించినాడు. ఆ శ్లోకానికి చాలా సంతోషించి ఇది ఎవరు వ్రాశారు అని ఆరాజు ప్రశ్నించగా ఆగంధర్వుడు ఇలా సమాధానం చెప్పినాడు "ఉత్తర పశ్చిమప్రాంతంలో ఆనందపురం అనే ఒక బ్రాహ్మణాగ్రహారం ఉండేది. కౌశికగోత్రానికి చెందిన ఒక బ్రాహ్మణ కుటుంబం ఆ గ్రామం విడిచి నాసిక ప్రాంతంలో ఉన్న అచలపురానికి వలసవెళ్లినది. ఈ కుటుంబంలో నారాయణ స్వామి అనే మహాపండితుడికి దామోదరుడనే కుమారుడు కలిగినాడు. మహాకవియైన భారవి ద్వారా ఈ దామోదరుడు విష్ణువర్ధన మహారాజుతో మైత్రి సంపాదించుకున్నాడు. ఒకనాడు విష్ణువర్ధనుడు వేటకు వెడుతున్నప్పుడు దామోదరుడు కూడా వెళ్లినాడు. అక్కడ రాజు బలవంతంమీద ఇతడు మాంసభక్షణం చేసినాడు. ఆ పాపం చేసినందుకు తండ్రికి ముఖం చూపించడానికి ఇష్టంలేక తీర్థయాత్రల కోసం బయలుదేరాడు. ఇతని బుద్ధి వైభవాన్ని మెచ్చుకొని గంగవంశానికి చెందిన

దుర్వినీతుడు ఈతనికి ఆశ్రయం ఇచ్చినాడు. అప్పటికి దామోదరుని వయస్సు ఇరవై సంవత్సరాలు. ఈ శ్లోకం అతడు వ్రాసినదే." ఈ విషయం తెలిసిన తరువాత సింహవిష్ణువు చాలా ప్రయత్నం చేసి దామోదరుణ్ణి తన ఆస్థానానికి పిలిపించి సత్కరించినాడు. అప్పటి నుంచీ దామోదరుడు కాంచీ పురంలో స్థిరపడిపోయినాడు. ఈ దామోదరుని కుమారుడైన మనోరథుని పౌత్రుడు దండి. ఈతని తండ్రి పేరు వీరదత్తుడు. తల్లి గౌరి ఇతని చిన్నతనంలోనే తండ్రి మరణించాడు. కాంచీపురాన్ని శత్రురాజులు ముట్టడించగా ఆ అల్లకల్లోల పరిస్థితులలో దండి లభించిన గురువుల దగ్గరల్లా వివిధ శాస్త్రాలు చదువుతూ కొంతకాలం పాటు దేశాటనం చేసి శాంతినెలకొన్న తరువాత కాంచీపురం చేరుకున్నాడు.

ఒకనాడు దండి తన మిత్రులతో కలిసి సముద్రతీరం మీద ఉన్న మహామల్లపురంలోని విష్ణువిగ్రహం దగ్గర ఉండగా దివ్యసౌరభంతో కూడిన ఒక కమలం సముద్రపు టలలమీదుగా కొట్టుకుంటూ వచ్చి, విష్ణువు పాదాలను చేరి ఒక విద్యాధరుడుగా మారిపోయింది. ఈ విద్యాధరుడు విష్ణువుకు నమస్కరించి అంతర్ధానమైనాడు. ఆ విద్యాధరుడు ఎవరో, ఎందుకు కమలంగా అయినాడో ఆ కథ అంతా తెలుసుకోవాలనే అబిలాషతో దండి, కాంచి చేరిన పిమ్మట ఒక ద్వాదశీపర్వదివసాన విష్ణుపూజ చేసి రాత్రి ధర్భాసనం మీద నిద్రించినాడు. సరస్వతి స్వప్నంలో కనబడి ఆ విద్యాధరుని వృత్తాంతం అంతా దండికి కరతలా మలకం అయేటట్లు చేసింది. దానితో మరునాడు దండి ఆ కథ తన మిత్రులకి చెప్పినాడు. అదే అవంతి సుందరి కథ.

దండి వ్రాసిన ఈ స్వీయకథను బట్టి ఈతని కాలాన్ని కొంతవరకు నిర్ణయించవచ్చును. దండికి ముత్తాత అయిన దామోదరుడు 20 సంవత్సరాల వాడుగా ఉన్నప్పుడు భారవి సహాయంతో రాజకుమారుడైన విష్ణువర్ధనునితో స్నేహం సంపాదించుకున్నాడు. ఐహోలు శిలాశాసనం ప్రకారం 634 సం. నాటికే భారవికి కాళిదాసుతో సమానమైన కీర్తి ఉండేది. అందుచేత ఈ విష్ణువర్ధనుడు రెండవ పులకేశికి సోదరుడూ, తూర్పు చాళుక్యవంశస్థాపకుడూ అయిన

విష్ణువర్ధనుడు రెండవ పులకేశికి సోదరుడూ, తూర్పు చాళుక్య వంశస్థాపకుడూ అయిన విష్ణువర్ధనుడే అయి ఉండాలి. ఇతడు 615- 633 సంవత్సరాలలో రాజ్యం చేసినాడు. దామోదరునికి ఇతనితో స్నేహం 615కి పూర్వమే, ఇతని చిన్న వయస్సులోనే ఏర్పడి ఉండాలి. పల్లవరాజైన సింహవిష్ణువు 575 నుండి 600 దాకా రాజ్యం చేసినట్లు చెపుతున్నారు. అందుచేత దామోదరుడు అరవ శతాబ్ది చివరా ఏడవ శతాబ్ది పూర్వార్ధంలోనూ ఉండి ఉండాలి. దీనిని బట్టి అతని మునిమనుమడైన దండి ఏడవ శతాబ్ది చివర, ఎనిమిదవ శతాబ్ది పూర్వార్ధంలో ఉండి ఉండవచ్చును అని **'అవంతి సుందరి'** ప్రస్తావనంలో కె.యస్. మహదేవ శాస్త్రి వ్రాసి ఉన్నారు. ఇది పి.వి. కాణేగారు అంగీకరించిన దండి కాలానికి చాలా వరకు అనుగుణంగా ఉన్నది.

'దండి' కి ఆ పేరు 'బ్రహ్మాండచ్ఛత్రదఃడఃడః..." అనే దశకుమార చరిత్ర ప్రార్థనాశ్లోకంలో అనేక పర్యాయాలు 'దండ' శబ్దాన్ని ప్రయోగిస్తూ త్రివిక్రముని పాదదండాన్ని వివిధదండాలతో పోల్చడంవల్ల వచ్చి ఉంటుందనీ, అసలు పేరు మరొకటేదో అయి ఉంటుందనీ కొందరి అభిప్రాయం. దండి పేరే కాదు, మన సంస్కృత కవులలో చాలామంది పేర్లు పౌరుషనామాలే అన్నట్లు కనబడుతుంది. భాసుడు, కాళిదాసు, అశ్వఘోషుడు, బాణుడు, భవభూతి, భారవి, మాఘుడు - ఇవే కాక 'శాకటాయనుడు' మొదలైన కొందరు శాస్త్రకారుల నామాలు కూడా పౌరుషనామాలేమో అన్నట్లు కనబడుతుంది.

దండి రచనలు

"త్రయోగ్నయస్త్రయో వేదాస్త్రయో దేవాస్త్రయో గుణాః,
త్రయో దండి ప్రబంధాశ్చ త్రిషు లోకేషు విశ్రుతాః."

అని రాజశేఖరుడు చెప్పినట్లుగా ఒక శ్లోకం ప్రచారంలో ఉన్నది. దండి వ్రాసినట్లుగా చెప్పే ఈ మూడు గ్రంథాలలో **కావ్యాదర్శ - దశకుమారచరిత్రలు** కాక మూడవ గ్రంథం విషయంలో పండితులలో చాలా అభిప్రాయభేదాలు ఉన్నవి.

"లింపతీవ తమోంగాని వర్షతీవాంజనం నభః,
అసత్పురుష సేవేవ దృష్టిర్విఫలతాం గతా".

అనే **కావ్యాదర్శంలోని** శ్లోకం **మృచ్ఛకటికంలో** కూడా ఉండడంచేత మృచ్ఛకటికం కూడా దండి వ్రాసినదే అని కొందరి అభిప్రాయము. ఇది అంతసరియైన అభిప్రాయం కాదు. ఎందుచేతనంటే ఈ శ్లోకం భాసుని **"బాల చరితం"**లో కూడా ఉన్నది. కావ్యాదర్శంలో ఈ శ్లోకాన్ని ఉదాహరించిన ఘట్టం పరిశీలిస్తే దండి ఏదో ప్రాచీనశ్లోకాన్ని ఉదాహరించినట్లుగా స్పష్టం అవుతుంది. "కొందరు ఈ శ్లోకంలో ఉపమను అంగీకరించారు. అది సరికాదు" అని అంటూ దండి ఆ విషయాన్ని విస్తృతంగా చర్చిస్తాడు. దీన్ని గూర్చి కొందరు ఒక విధంగా అభిప్రాయపడడం అనేది ఇది ప్రచీన శ్లోకమైతేనే సంభావ్యం అవుతుంది.

కావ్యాదర్శంలో ఒకచోట

"పద్యం చతుష్పదీ తచ్చ వృత్తం జాతిరితి ద్విధా
ఛందోవిచిత్యాం సకల స్తత్ప్రపంచో నిరూపితః"

అని వ్రాయడం చేత దండి **"ఛందోవిచితి"** అనే ఛందః శాస్త్రగ్రంథం వ్రాసి ఉంటాడని కొందరి అభిప్రాయము. ఐతే అర్థశాస్త్రము, ఆపస్తంబ ధర్మసూత్రమూ మొదలైన కొన్ని ప్రాచీన గ్రంథాలలో కూడా **"ఛందోవిచితి"** ప్రస్తావం ఉండడంచేత ఇది దండి రచన కావలసిన పనిలేదు. **"మయా నిరూపితః"** అని అనలేదు కదా? అందుచేత ఇది పింగళుని ఛందఃశాస్త్రమైనా కావాలి, మరొక ప్రాచీన గ్రంథమైనా కావాలి.

ఇలాగే కావ్యాదర్శంలో మరొకచోట

"ఇత్థం కలాచతుష్షష్టి విరోధః సాధునీయతామ్,
తస్యాః కలాపరిచ్ఛేదే రూపమావిర్భవిష్యతి".

అని వ్రాయడం చేత దండి **"కలావరిచ్ఛేదము"** అనే గ్రంథం కూడా వ్రాసి ఉంటాడని కొందరి ఊహ. ఐతే ఇది **"వరిచ్ఛేదము"** అనే పేరును పట్టి చూడగా

కావ్యాదర్శంలోని ఒక పరిచ్ఛేదం కావచ్చుననీ, ప్రస్తుతం మనకు లభించే కావ్యాదర్శంలో, అర్వాచీనులు కొందరు (మాలతీమాధవవ్యాఖ్య **"జగద్ధర"**, కామసూత్ర వ్యాఖ్య **"జయమంగల"**) **కావ్యాదర్శ** గతాలుగా చెప్పిన కొన్ని శ్లోకాలు కనబడక పోవడంచేత కావ్యాదర్శంలోని కొన్ని భాగాలు మనకు ఇప్పుడు లభ్యం కావడం లేదనీ చెప్పవచ్చు.

రామాయణ మహాభారతకథలు రెండూ కూర్చిన ఒక **ద్వినందానకావ్యం** దండి రచించినట్లుగా భోజుడు శృంగార ప్రకాశలో, రెండుచోట్ల చెప్పి ఉన్నాడు. **''దండినో ధనంజయస్యన్య వా ద్వినంధానే''** (7వ ప్రకాశ) **"రామాయణమహాభారత యోర్దండి ద్వినంధానమివ"** (9వ ప్రకాశ) దీనిని పట్టి దండి ద్విసంధాన కావ్యమొకటి రచించినట్లు తెలుస్తోంది.

ఇపుడు మనకు లభించే దశకుమారచరిత్ర కర్తృత్వం విషయంలో కూడా పండితులలో విప్రతిపత్తి ఉన్నది. దీనికి ప్రాచీనులు వ్రాసిన వ్యాఖ్యానం ఉత్తర భాగానికే దొరుకుతున్నది. కాని పూర్వభాగానికి దొరకడంలేదు. అందుచేత ఉత్తర భాగం మాత్రమే దండి రచన అయి ఉండాలని కొందరి అభిప్రాయం. దండి రచించిన పూర్వభాగం అలభ్యంకాగా, కేతన తెలుగులోనికి చేసిన అనువాదాన్ని పట్టి ఎవరో మళ్లీ పూర్వభాగం సంస్కృతంలో వ్రాసి ఉంటారనీ, అందుచేతనే ఈ భాగంలో తెలుగు నుడికారాలు ఎక్కువగా కనబడుతున్నాయనీ మానవల్లి రామకృష్ణ కవిగారి అభిప్రాయం.

ఏమైనా **అవంతి నుందరిలోని** కథాభాగాలు **దశకుమారచరిత్రలోను, దశ కుమారచరిత్రలోని** కథాభాగాలు **అవంతినుందరిలోనూ** కలిసిపోయి ఉండడాన్ని బట్టి ఈ రెండింటిలో ఏదో ఒకటి, **కావ్యాదర్శము, ద్వినంధాన కావ్యము,** ఈ మూడూ దండి రచించినాడని చెప్పడం యుక్తమని మా అభిప్రాయము.

కావ్యాదర్శము : అర్వాచీనలిఖిత పుస్తకాలలోనూ, ముద్రిత పుస్తకాలలోనూ **"కావ్యాదర్శం"** అనే పేరు అధిక ప్రచారంలో ఉన్నా ఒక ప్రాచీనలిఖిత గ్రంథంలో దీనికి **"కావ్యలక్షణం'** అనే పేరు ఉన్నది. అందుచేతనే సింహళదేశీయుడైన, రత్న

శ్రీజ్ఞాన అనే ప్రాచీన బౌద్ధపండితుడు, 908 సం॥లో, దీనికి **"కావ్యలక్షణరత్నశ్రీ"** అనే పేరుతో వ్యాఖ్యానం వ్రాశాడు. ఈతని వ్యాఖ్య టిబెట్టులో లభించిన కావ్యాదర్శం మూలాన్ని అనుసరించి ఉన్నది. **"యథాసామర్థ్య మస్మాభిః క్రియతే కావ్యలక్షణం"** అన్న వ్యాక్యాన్నిబట్టి దండికి కూడా ఆపేరే అభిమతమని తెలుస్తోంది. ఇప్పుడు ప్రసిద్ధిలో ఉన్నపేరు ఎప్పుడు, ఎలా వచ్చిందో తెలియదు. **"ఆదిరాజయశో భింబమాదర్శం ప్రాప్య వాఙ్మయమ్. తేషామనన్నిధానేపి న స్వయం పశ్య నశ్యతి"** (కా.ఆ.1.5) అనే శ్లోకంలో దండి – వాక్కు అనగా కావ్యం, ఆదిరాజుల యశస్సుకు ఆదర్శం అని వర్ణిస్తే, ఈ గ్రంథం కావ్యానికి ఆదర్శం అనే ఉద్దేశంతో ఎవరో తరువాతి వారు దీనికి "కావ్యాదర్శం" అనే పేరు పెట్టినారేమో. ఇది కేవలం ఊహ.

కావ్యాదర్శంలో మొత్తం 660 శ్లోకాలు (చాలా వరకు అనుష్టుప్పులు) ఉన్నాయి. మూడు పరిచ్ఛేదాలు. ప్రథమపరిచ్ఛేదంలో – గద్యము, పద్యము, మిశ్రమూ అనే కావ్య భేదాలు, సర్గబంధ లక్షణం చూపిన తరువాత గద్యకావ్యంలో అఖ్యాయిక, కథ అనే ఇతరు లంగీకరించిన భేదాలు అంతగా ప్రధానమైనవి కావంటాడు దండి. వాఙ్మయము సంస్కృతం, ప్రాకృతం, అపభ్రంశం, మిశ్రం అని నాలుగు రకాలని, విభజించి వైదర్భ – గౌడమార్గాలనూ, వాటికి సంబంధించిన పది గుణాలను పేర్కొని, వైదర్భమార్గం అత్యుత్తమమైనదని ప్రతిపాదించాడు. అనుప్రాసను లక్షణోదాహరణలతో విశదీకరించి కావ్యరచనకి ప్రతిభ, శ్రుతి, అభియోగము (పట్టుదలతో అభ్యాసం చేయడము), అనే మూడు చాలా అవసరమని ఈ పరిచ్ఛేదం పూర్తి చేశాడు.

వాఙ్మయాన్ని నాలుగు విధాలుగా విభజించిన ఆనాటి దండ్యాది ఆలంకారికుల దృష్టి వైశాల్యాన్ని చూస్తే, వారే ఈనాడు ఉంటే పాశ్చాత్య వాఙ్మయాదులతో కూడ పరిచయం ఏర్పరచుకొని వాటిని కూడా తమ శాస్త్ర పరిధిలోనికి చేర్చుకొని ఉండేవారని అనిపిస్తుంది. మా సాహిత్యం గొప్పదంటే మా సాహిత్యం గొప్పది అని నేడు కనబడే కీచులాటలు ఉండేవికావు.

ద్వితీయ పరిచ్ఛేదంలో 37 అలంకారాలను, అవాంతరభేదాలతో, సోదాహరణంగా విశదీకరించినాడు. (దండి – భామహ – వామనులు అంగీకరించిన అలంకారాల పేర్లు మా బాలానందినీసహిత వామన సూత్రాలంకారవృత్తి ప్రస్తావనలో చూపబడినవి).

తృతీయ పరిచ్ఛేదంలో యమకాల అతివిస్తృతవర్ణనము, కొన్ని చిత్ర బంధాల నిరూపణము చేసిన తరువాత 16 విధాల ప్రహేళికల లక్షణోదాహరణాలు, దోషాల లక్షణోదాహరణాలు చూపబడినాయి. ఈవిధంగా కావ్యాదర్శం అతి సరళమైన శైలిలో చక్కని ఉదాహరణలతో రచింపబడింది.

దండి అటు అలంకారాలకీ, ఇటు గౌడవైదర్భమార్గాలకీ, వాటికి సంబంధించిన గుణాలకీ కూడా తన గ్రంథంలో సమప్రాధాన్యం ఇచ్చినాడు. తరువాత వామనుడు మార్గానికి 'రీతి' అనే క్రొత్త పేరు పెట్టి పాంచాలీరీతిని కూడా చేర్చి, రీతియే కావ్యాత్మ అనే క్రొత్త సిద్ధాంతాన్ని ప్రతిపాదించినాడు.

క్రీ.శ. 815-875 సంవత్సరాలలో రాజ్యం చేసిన రాష్ట్రకూట వంశీయుడైన నృపతుంగుడు (అమోఘవర్షుడు) కావ్యాదర్శాన్ని పూర్తిగా ఆధారంగా చేసికొని, కన్నడభాషలో **"కవిరాజమార్గం"** అనే అలంకారశాస్త్రగ్రంథం రచించినాడు. ఇది చాలా వరకు కావ్యాదర్శానువాదం అని చెప్పవచ్చు. సింహళదేశరాజు సిరిసిల మేఘసేనుడు (క్రీ.శ. 831-851) **సియభానలకార (స్వీయభాషాలంకార)** అనే పేరుతో **కావ్యాదర్శాన్ని** అనువదించాడు. దీనిని వాస్తవంలో రచించినవాడు క్రీ.శ. 741 సంవత్సరంలో సింహాసనానికి వచ్చిన "అక్‌బో" అనే రాజు అని ఒక అభిప్రాయం ఉన్నది. దీన్ని బట్టి కూడా **కావ్యాదర్శం** అతి ప్రాచీనమైనదనడానికి చాలా అవకాశాలు ఉన్నాయి. కావ్యాదర్శానికి వ్రాసిన అనేక వ్యాఖ్యానాలలో చెప్పుకోదగినవి – తరుణవాచస్పతి వ్రాసిన వ్యాఖ్య, అజ్ఞాతకర్తృకమైన **"హృదయం గమ"** అనే వ్యాఖ్య, రత్నశ్రీ రచించిన **"కావ్యలక్షణరత్నశ్రీ"** అనే వ్యాఖ్య, హరినాథుడు రచించిన **"మార్జన"** వ్యాఖ్య, కృష్ణకింకరతర్కవాగీశుడు రచించిన **"కావ్యతత్త్వ వివేచకకౌముది"**, వాదిఘంఘలుడు వ్రాసిన **'శ్రుతానుపాలిని'**, జగన్నాథుని కుమారుడైన మల్లినాథుడు రచించిన **"వైమల్యవిధాయిని"** విజయానంద

శ్రీః

శ్రీ మహాగణాధిపతయే నమః

కావ్యాదర్శః - ప్రథమ పరిచ్ఛేదః

బాలానన్దిన్యాఖ్యయా ఆంధ్రభాషా వ్యాఖ్యయా అలంకృతః

మూ. చతుర్ముఖముఖామ్భోజకలహంసవధూర్మమ
మానసే రమతాం నిత్యం సర్వశుక్లా సరస్వతీ. 1

బాలానన్దినీ వ్యాఖ్యా

నత్వా శ్రీతాతపాదాదీన్ మంత్రవిద్యాదిసద్గురూన్
కావ్యాదర్శకృతేర్వ్యాఖ్యామాంధ్ర్యాం కుర్వేయథామతి

మహాపండితుడగు దండి కావ్యాదర్శమను అలంకారశాస్త్ర గ్రంథమును చేయుటకు ఉపక్రమించి - "మఙ్గలాదీని హి, శాస్త్రాణి ప్రథన్తే వీరపురుషాణి చ భవన్త్యాయుష్మత్పురుషాణి చాధ్యేతారశ్చ సిద్ధార్థా యథాస్యుః" అను మహాభాష్యకారోక్తిని అనుసరించి గ్రంథావిఘ్న పరిసమాప్తికై సరస్వతీ నమస్కార రూపమగు మంగలాచరణము చేయుచున్నాడు.

చతుర్ము... వధూః = (నాలుగు ముఖములుగల) బ్రహ్మ ముఖములనెడు పద్మముల సముదాయమునందు (విహరించు) ఆడహంసయైనదియు, సర్వశుక్లా = పూర్తిగా శుక్లవర్ణయగు, సరస్వతీ = సరస్వతి, నిత్యం = ఎల్లప్పుడును, మమ = నా, మానసే = మనస్సు అనెడు మానససరోవరమునందు, రమతాం = విహరించుగాక.

మహా వైదుష్యము కల విజ్జిక అను ఒక రాణి దండి ప్రయోగించిన 'సర్వశుక్లా

సరస్వతీ' అను దానిని చూచి –

"నీలోత్పలదలశ్యామాం విజ్ఞికాం మామజానతా
వృథైవ దండినా ప్రోక్తా సర్వశుక్లా సరస్వతీ" అని అన్నదట.

మూ. పూర్వశాస్త్రాణి సంహృత్య ప్రయోగానుపలక్ష్య చ
యథా సామర్థ్యమస్మాభిః క్రియతే కావ్యలక్షణమ్. 2

వ్యా. పూర్వశాస్త్రాణి = పాచీనాలంకార శాస్త్రములను, సంహృత్య = సంగ్రహించి, (సంక్షిప్తము చేసి), ప్రయోగాన్చ = ప్రాచీనకవిప్రయోగములను కూడ, ఉపలక్ష్య = పరిశీలించి, అస్మాభిః = మాచేత, యథాసామర్థ్యం = సామర్థ్యానుసారముగా, కావ్య లక్షణం = కావ్యలక్షణమనెడు గ్రంథము, క్రియతే = రచింపబడుచున్నది.

వి. 'కావ్యలక్షణమ్' అనునది కావ్యాదర్శముయొక్క రెండవ నామధేయము. కావ్యలక్షణ మనెడు గ్రంథమును రచించుచున్నాను, అని అర్థము. కాని, చాలమంది అనుకొనునట్లు "కావ్యమునకు లక్షణము చెప్పుచున్నాను" అని అర్థము కాదు. అందుచేతనే 'క్రియతే' అని ప్రయోగించినాడు కాని 'అభిధీయతే' అని అనలేదు. ఈ గ్రంథమునకు కావ్యాదర్శ మనియే ప్రసిద్ధముగ నామధేయమున్నను కావ్యలక్షణమను పేరుతో కూడ 'రత్నశ్రీ' అను వ్యాఖ్యానముతో కొన్ని సంవత్సరముల క్రిందట ఇది ప్రచురించబడినది. (చూ."కావ్యలక్షణమ్" పు.17)

మూ. ఇహ శిష్టానుశిష్టానాం శిష్టానామపి సర్వథా
వాచామేవ ప్రసాదేన లోకయాత్రా ప్రవర్తతే. 3

వ్యా. ఇహ = ఈ ప్రపంచమునందు, శిష్టానుశిష్టానాం = శిష్టులైన పాణిని వరరుచ్యాదులచే ప్రకృతి ప్రత్యయాది విభాగముతో నియమింపబడిన, వాచాం = వాక్కులయొక్కయు (సంస్కృత ప్రాకృతాది భాషలయొక్కయు), శిష్టానామపి = (అట్లు వ్యాకరణ నియమబద్ధముగాని) మిగిలిన దెశ్యభాషల యొక్కయు, ప్రసాదేనైవ = అనుగ్రహముచేతనే (సహాయముచేతనే), లోకయాత్రా = లోక

వ్యవహారము, సర్వథా = అన్నివిధముల, ప్రవర్తతే = ప్రవర్తించుచున్నది.

మూ. ఇదమన్ధం తమః కృత్స్నం జాయేత భువనత్రయమ్
యది శబ్దాహ్వయంజ్యోతి రాసంసారం న దీప్యతే. 4

వ్యా. శబ్దాహ్వయం = శబ్దమను పేరుగల, జ్యోతిః = ఈ తేజస్సు, ఆసంసారం = సృష్టి ప్రారంభమునుండియు, న దీప్యతేయది = ప్రకాశించకపోయినచో, ఇదం = ఈ, కృత్స్నం = సమస్తమైన, భువనత్రయం = లోకత్రయము, అన్ధం తమః = అంధతమసముగా, జాయేత = అయిఉండెడిది.

మూ. ఆదిరాజయశో బిమ్బమాదర్శం ప్రాప్య వాఙ్మయమ్
తేషామసన్నిధానేఽపి న స్వయం పశ్య నశ్యతి. 5

వ్యా. ఆదిరాజయశః = పూర్వరాజుల కీర్తియనెడు, బిమ్బం = బింబము, వాఙ్మయం = వాఙ్మయమనెడు, ఆదర్శం = అద్దమును, ప్రాప్య = పొంది, తేషాం = ఆరాజుల, అసన్నిధానేఽపి = సాంనిధ్యము లేకపోయినను, స్వయం = తాను, న నశ్యతి = నశించదు, పశ్య = చూడుము.

వి. తనకు ఆధారభూతులగు రాజులు నశించినను, కీర్తి నూతనాశ్రయమగు కావ్యములో స్థిరముగ నిలచి పోవునని అర్థము. ఉత్తమ రాజాదుల చరిత్ర చిత్రణము, తద్వారా సన్మార్గోపదేశము కావ్య ప్రయోజనములలో ఒకటి అని ఇచట సూచితమైనది.

మూ. గౌర్గౌః కామదుఘా సమ్యక్ ప్రయుక్తా స్మర్యతే బుధైః
దుష్ప్రయుక్తా పునర్గోత్వం ప్రయోక్తుః సైవ శంసతి. 6

వ్యా. గౌః = వాక్కు, సమ్యక్ ప్రయుక్తా = బాగుగ, అనగా నిర్దుష్టముగ, ప్రయోగింపబడినదై, కామదుఘా = సమస్త కామములను వర్షించు, గౌః = గోవుగా, కామధేనువుగా, బుధైః = పండితులచే, స్మర్యతే = చెప్పబడుచున్నది. సైవ = ఆవాక్కే, దుష్ప్రయుక్తా పునః = చెడ్డగా ప్రయోగింప బడినచో, ప్రయోక్తుః = ప్రయోగించినవాని యొక్క, గోత్వం = వృషభత్వమును (ఎద్దువంటి మొద్దు అని),

శంసతి = ప్రకటీకరించును.

"ఏకః శబ్దః సమ్యగ్జ్ఞాతః శాస్త్రాన్వితః సుప్రయుక్తః స్వర్గే లోకే కామధుగ్భవతి" అని మహాభాష్య కారుడు కూడ(6-1-84) సుశబ్ద ప్రయోగము కామధేనువు వంటిదని (పస్పశాహ్నికము) అపశబ్ద ప్రయోగము దోషహేతువని కూడ చెప్పి యున్నాడు.

మూ. తదల్పమపి నోపేక్ష్యం కావ్యే దుష్టం కథం చన
స్యాద్వపుః సుందరమపి శ్విత్రేణై కేన దుర్భగమ్. 7

వ్యా. తత్ = ఆకారణము వలన, కావ్యే = కావ్యమునందు, అల్పమపి = అత్యల్పమైనను, దుష్టం = దోషము, కథంచన = ఏ విధముగను కూడ, నోపేక్ష్యం = ఉపేక్షింప తగినది కాదు. వపుః = శరీరము, సుందరమపి = ఎంత సుందర మైనదైనను, ఏకేన = ఒక, శ్విత్రేణ = బొల్లిచేతనే, దుర్భగం = సౌభాగ్య రహితమై, స్యాత్ = అగును.

వి. 'దుష్టమ్' అనునది భావేక్తప్రత్యయాంతము.

మూ. గుణదోషానశాస్త్రజ్ఞః కథం విభజతే జనః
కిమన్ధస్యాధికారోఽ స్తి రూపభేదోపలబ్ధిషు. 8

వ్యా. అశాస్త్రజ్ఞః = సాహిత్య శాస్త్రజ్ఞానములేని, జనః = జనుడు, గుణదోషాన్ = (కావ్యములకు సంబంధించిన) గుణదోషములను, కథం = ఎట్లు, విభజతే = వేరు వేరుగా తెలిసికొనగలడు? రూపభేదోపలబ్ధిషు = రూపము యొక్క భేదము లను తెలిసికొనుటయందు, అన్ధస్య = గ్రుడ్డివానికి, అధికారః = అధికారము, అస్తికిమ్ = ఉన్నదా?

మూ. అతః ప్రజానాం వ్యుత్పత్తి మభిసన్ధాయ సూరయః
వాచాం విచిత్ర మార్గాణాం నిబబన్ధుః క్రియావిధిమ్. 9

వ్యా. అతః = ఆకారణమువలన, సూరయః = పండితులు, ప్రజానాం = ప్రజలకు, ('పదానామ్' అని పాఠాంతరము, పదములకు సంబంధించిన అని

అర్థము), వ్యుత్పత్తిం = వ్యుత్పత్తిని, జ్ఞానమును, అభిసన్ధాయ = ఉద్దేశించి, విచిత్ర మార్గాణాం = విచిత్రములైన మార్గములు గల, వాచాం = వాక్కులయొక్క, క్రియా విధిం = నిర్మాణమునకు సంబంధించిన విధానమును, నిబబన్ధుః = కూర్చిరి.

వి. దండి ఇచట 'క్రియావిధి' శబ్దమును ప్రయోగించియున్నాడు. కొన్ని ఇతర ప్రాచీన గ్రంథములందు 'క్రియాకల్ప' మొదలగు పదములు ప్రయుక్తములైనవి. ఇట్టి ప్రయోగములను ఆధారముగ చేసికొని కొందరు పండితులు, అలంకార శాస్త్రమునకు, ప్రాచీనకాలమున 'క్రియావిధి', 'క్రియాకల్ప' మొదలగు నామాంత రము లుండెడివని అభిప్రాయపడుచున్నారు.

'కావ్యలక్షణ' (కావ్యాదర్శ) ప్రాచీన వ్యాఖ్యాతయగు రత్నశ్రీ జ్ఞానపండితుడు ఈ విధముగ వ్రాసియున్నాడు. *"క్రియావిధిం = క్రియాకల్పమ్... (మల్లనాగేన విద్యా సముద్దేశే క్రియాకల్ప ఇతి కావ్యాలఙ్కార ఉక్తః, తదనుసారేణ క్రియాకల్పః క్రియా... (విధీ) యతేఽనేనేతి క్రియావిధిః. క్రియాకల్పోఽ ప్యేవమితి నార్థతః కశ్చిత్ భేదః. కావ్యలక్షణం శాస్త్రం కృతవన్తః".(1-9)*

మూ. తైః శరీరం చ కావ్యానామలఙ్కారాశ్చ దర్శితాః
శరీరం తావదిష్టార్థవ్యవచ్ఛిన్నా పదావలీ. 10

వ్యా. తైః = వారిచే, కావ్యానాం = కావ్యములయొక్క, శరీరం = శరీరము, అలంకారాశ్చ = అలంకారములును, దర్శితాః = చూపబడినవి. ఇష్టార్థ వ్యవచ్ఛిన్నా = ఇష్టమైన, అనగా మనోహరమైన, అర్థముతో కూడిన, పదావలీ = పదముల పంక్తి, శరీరం = కావ్యశరీరము.

వి. ***"శరీరం తావదిష్టార్థవ్యవచ్ఛిన్నా పదావలిః"*** అనుదానిని దండి కావ్యలక్షణ ముగా చెప్పినాడని చాలమంది అభిప్రాయము. కాని కావ్య శరీరమును మాత్రమే కంఠోక్తితో చెప్పుచున్నపుడు ఇది కావ్య లక్షణమెట్లగును. పూర్తి లక్షణమును చెప్పవలెనన్నచో ఒక్క శరీరమునే కాక ఇతర విషయములను కూడ చెప్ప వలెను కదా? కావున దండి కావ్యలక్షణమును స్పష్టముగ నిర్దేశించలేదు. అక్కడక్కడ ఆతడు వ్రాసిన దానిని పట్టి ఆతనికభీష్టమగు కావ్యలక్షణమును మనము ఊహించుకొన వలసి యుండును. అందుచే బహుశా "సాలఙ్కారా, ఇష్టార్థవ్యవచ్ఛిన్నా, విచిత్ర

మార్గా, పదావలిః కావ్యమ్" అని దండికి అభిమతమైన కావ్యలక్షణమై యుండును.

మూ. గద్యం పద్యంచ మిశ్రం చ తత్త్రిధైవ వ్యవస్థితమ్
పద్యం చతుష్పదీ తచ్చ వృత్తం జాతిరితి ద్విధా. 11

వ్యా. తత్ = అది (కావ్యశరీరము)గద్యం = గద్యమనియు, పద్యం = పద్యమనియు, మిశ్రం చ = గద్యపద్య మిశ్రమమనియు, త్రిధైవ = మూడు విధములుగనే, వ్యవస్థితం = విభిన్న రూపములలో నున్నది. చతుష్పదీ = నాలుగు పాదముల సంఘాతము, పద్యం = పద్యము, పద్యము నాలుగు పాదములతో ఉండును. తచ్చ = ఆ పద్యము, వృత్తం = వృత్తమనియు (వంశస్థ-వసంతతిలకాది వృత్తములు) జాతిః = జాతి అనియు (ఆర్య మొదలగునది) ద్విధా = రెండు విధములు.

వి. అక్షరముల సంఖ్యపై (గణరూపమున) ఆధారపడినది వృత్తము. మాత్రా సంఖ్యపై ఆధారపడి యున్నది జాతి.

"పద్యం చతుష్పదీ తచ్చ వృత్తం జాతిరితి ద్విధా
వృత్తమక్షర సంఖ్యాతం జాతిర్మాత్రాకృతా భవేత్".

(ఛందోమంజరి)

మూ. ఛన్దోవిచిత్యాం సకలస్తత్ప్రపఞ్చో నిదర్శితః
సా విద్యా నౌ స్తితీర్షూణాం గభీరం కావ్యసాగరమ్. 12

వా. సకలః = సమస్తమైన, తత్ప్రపంచః = ఆవృత్తములకును జాతులకును సంబంధించిన విస్తారము, ఛందోవిచిత్యాం = "ఛందోవిచితి" యను గ్రంథము నందు, నిదర్శితః = చూపబడినది. గభీరం, చాలాతోతైన, కావ్యసాగరం = కావ్య సముద్రమును, తితీర్షూణాం = దాటదలచిన వారికి, సా = ఆ, విద్యా = ఛందో విద్య, నౌ: = ఓడ.

వి. దండి 'ఛందోవిచితి' అను ఒక ఛందః శాస్త్ర గ్రంథమును కూడ

రచించినట్లు చెప్పుదురు.

"త్రయోగ్నయస్త్రయో వేదాస్త్రయో దేవాస్త్రయో గుణాః
త్రయో దణ్డిప్రబన్ధాశ్చ త్రిషు లోకేషు విశ్రుతాః".

మూ. ముక్తకం కులకం కోషః సఙ్ఘాత ఇతి తాదృశః
సర్గబన్ధాంశ రూపత్వాదనుక్తః పద్యవిస్తరః. 13

వా. ముక్తకం = ముక్తకము, కులకం = కులకము, కోషః = కోషము, సఙ్ఘాతః = సంఘాతము, ఇతి = అని, తాదృశః = అట్టి, పద్యవిస్తరః = పద్యవిస్తరము, సర్గబన్ధాంశరూపత్వాత్ = సర్గబంధముయొక్క అంశమే అగుటవలను, అనుక్తః = చెప్పబడలేదు.

వి. ముక్తకాదిభేదము లన్నియు సర్గబంధావాంతరభేదములే గాన వాటిని గూర్చి విశేషముగ ఇచట చెప్పలేదు.

ముక్తకము:- "ముక్తకం శ్లోక ఏవైకః చమత్కారక్షమః సతామ్". ఒక్క శ్లోక మైనను చమత్కారజనక మైనచో, అది ముక్తకము. ఉదా. అమరుశతకాదికము.

కులకము:- ఐదు లేక అంతకంటె అధికసంఖ్యాకములగు, ఏకాన్వయముగల శ్లోకములు.

"ద్వాభ్యాం యుగ్మమితి ప్రోక్తం త్రిభిः శ్లోకైర్విశేషకమ్
కలాపకం చతుర్భిः స్యాత్ తదూర్ధ్వం కులకం స్మృతమ్".

కోషము:- నాయికా పద్ధతి, నాయక పద్ధతి ఇత్యాదిరూపమున రచిత మగు పరస్పర నిరపేక్షశ్లోకసమూహము కోషము. భర్తృహరిశతకత్రయ-ఆర్యా సప్త శత్యాదికము ఉదాహరణము. **"కోషः శ్లోకసమూహస్తు స్యాదన్యోన్యానపేక్షకः, వ్రజ్యాక్రమేణ రచితः స ఏవాతిమనోరమः".**

సంఘాతము:- ఒక విషయమును ఒకే వృత్తములో వర్ణించు కావ్యము సంఘాతము. మేఘసందేశాదులు ఉదాహరణము. **"యత్ర కవిరేకమర్థం వృత్తైనైకేన వర్ణయతికావ్యే. సంఘాతः సనిగదితः వృన్దావనమేఘదూతాదిः"**

మూ. సర్గబన్ధో మహాకావ్యముచ్యతే తస్య లక్షణమ్
ఆశీర్న మస్క్రియా వస్తునిర్దేశో వాపి తన్ముఖమ్. 14

వ్యా. సర్గబంధః = సర్గబంధము, సర్గలలో విభజింపబడిన శ్రవ్యకావ్యము. మహాకావ్యం = మహాకావ్యము, తస్య = దానియొక్క, లక్షణం = లక్షణము, ఉచ్యతే = చెప్పబడుచున్నది. ఈ శ్లోకము మొదలు 19 వ శ్లోకము వరకును మహాకావ్య లక్షణము చెప్పబడుచున్నది. ఆశీః = ఆశీర్వాదము, అనగా ఇట్టి లాభము కలుగుగాక అనుకోరికను ఆవిష్కరించుటకాని, నమస్క్రియా = ఇష్ట దేవతాది నమస్కారముకాని, వస్తునిర్దేశః వా అపి = ఉదాత్తమైన వస్తువు యొక్క నిర్దేశము కాని, తన్ముఖమ్ = దానియొక్క ప్రారంభము. అనగా మహాకావ్యమును ఆశీరాదులలో దేనితోనైనను ప్రారంభింపవచ్చును.

మూ. ఇతిహాసకథోద్భూతమితరద్వా సదాశ్రయమ్
చతుర్వర్గ ఫలాయత్తం చతురోదాత్తనాయకమ్. 15

వ్యా : ఇతిహాసకథోద్భూతం = రామాయణ మహాభారతాదులలోని లేదా ఇతరమైన చారిత్రక గ్రంథములలోని కథను ఆశ్రయించి ఉండునదియు, వా = లేక, ఇతరత్ = మరియొక విధముగా, సదాశ్రయం = మహాపురుషులగు బుద్ధాదుల చరిత్రను ఆశ్రయించి ఉన్నదియు, రఘువంశ - భారత మంజరీ - రాజతరంగిణీ - బుద్ధచరితాదులు ఉదాహరణము. చతుర్వర్గ ఫలాయత్తం = ధర్మ - అర్థ - కామ - మోక్షము లను నాలుగు పురుషార్థముల ఫలమునకు సంబంధించినదై, అనగా వాటిలో ఏదియో ఒక దానినిగాని, అన్నింటిని గాని, కొన్నింటిని గాని సంపాదించుటకు ఉపకరించునదై ఉన్నదియు, చతురోదాత్త నాయకమ్ = సమర్థుడు, ఉదాత్తస్వభావము కలవాడు అగు నాయకుడు కలదై ఉన్నదియు, ఈ శ్లోకములోను రాబోవు శ్లోకములలోను ఉన్న 'ఇతిహాస కథోద్భూతం' ఇత్యాది ప్రథమాన్త విశేషణములు 19వ శ్లోకములోని 'కావ్యమ్' అనుదానితో అన్వయించును.

మూ. నగరార్ణవ శైలర్తు చన్ద్రార్కోదయవర్ణనైః
ఉద్యానసలిలక్రీడామధుపానరతోత్సవైః 16

విప్రలమ్భై ర్వివాహైశ్చ కుమారోదయవర్ణనైః
మన్త్రద్యూతప్రయాణాజినాయకాభ్యుదయైరపి. 17

వ్యా. నగరా..... వర్ణనైః = నగరములు, సముద్రము, పర్వతములు, ఋతువులు, చంద్రోదయ - సూర్యోదయములు - వీటివర్ణనములతోడను, ఉద్యాన..... రతోత్సవైః = ఉద్యానక్రీడలు, జలక్రీడలు, మధుపానము, సురతోత్సవము - వీటి వర్ణనములతోడను, విప్రలమ్భైః = వియోగవర్ణనముల తోడను, వివాహైశ్చ = వివాహవర్ణనలతోడను, కుమారోదయవర్ణనైః = పుత్రోత్పత్తి వర్ణనలతోడను, మన్త్ర..... అభ్యుదయైః అపి = మంత్రము, అనగా రాజకార్య విచారము, ద్యూతము, యుద్ధయాత్ర, యుద్ధము, నాయకునకు అభివృద్ధి - వీటి వర్ణనలతోడను, - 18వ శ్లోకములోని 'అలంకృతం' అనుదానితో అన్వయము.

మూ. అలఙ్కృతమసంక్షిప్తం రసభావనిరన్తరమ్
సర్గైరనతివిస్తీర్ణైః శ్రవ్యవృత్తైః సుసన్ధిభిః 18

సర్వత్ర భిన్నవృత్తాన్తైరుపేతం లోకరంజకమ్
కావ్యం కల్పాన్తరస్థాయి జాయతే సదలంకృతి. 19

వ్యా. అలంకృతం = పూర్వోక్తవర్ణనలతో అలంకరింపబడినదియు, అసంక్షిప్తం = అతిసంక్షిప్తము కానిదియు, అనగా - **"వసుదేవాత్స ముత్పద్య పూతనాం వినిపాత్య చ. కంసం హత్వా ద్వారకాయాముషిత్వా స్వర్గతోహరిః"** అను విధమున అతిసంక్షిప్తముగ చెప్పినచో అది రమణీయముగ ఉండదు. రసభావనిరంతరం= శృంగారాదిరసములతోడను, భావములతోడను నిండియున్నది, అనతివిస్తీర్ణైః= ఎక్కువ పెద్దవికానివియు, శ్రవ్యవృత్తైః = చెవులకు ఇంపుగానుండు వృత్తములు కలవియు, సుసన్ధిభిః= బాగుగా కూర్పబడిన, ముఖ-ప్రతిముఖ-గర్భ-అవమర్శ - నిర్వహణము లనెడు సంధులు కలవియు, సర్వత్ర=అంతటను (అన్నిసర్గల యందును) భిన్నవృత్తాన్తైః = వేరైన వృత్తములు గల అంతములు కలవియుఅగు, సర్గాంతమున వృత్తమును మార్చవలెనని యర్థము, సర్గైః = సర్గలతో, ఉపేతం = కూడి నదియు, లోక రఞ్జకం = లోకమునకు ఆనందకరముగ నుండునదియు,

సదలం కృతి = మంచి అలంకారములు గల, కావ్యం = కావ్యము, కల్పాన్తరస్థాయి = కల్పము మారువరకును, అనగా కల్పాంతము వరకును స్థిరమై, జాయతే = అగును. మహా కావ్యములోని సర్గలను గూర్చి సాహిత్య దర్పణమున ఇట్లు చెప్పబడినది:-

"ఏకవృత్తమయైః పద్యైరవసానేఽన్యవృత్తకైః
నాతిస్వల్పా నాతిదీర్ఘాః సర్గా అష్టాధికా మతాః.

నానావృత్తమయః క్వాపి సర్గః కశ్చన దృశ్యతే
సర్గాన్తే భావిసర్గస్య కథాయాః సూచనం భవేత్".

మహాకావ్యములో సర్గలు ఎనిమిదికంటె ఎక్కువ ఉండవలెను. ఒక సర్గలో అనేక వృత్తములను ప్రయోగింపవచ్చును. సర్గాంతమున రాబోవు సర్గలోని కథను సూచించవలెను అనునది అధికముగ చెప్పబడినది.

మూ. న్యూనమప్యత్ర యైః కైశ్చిదజ్ఞైః కావ్యం న దుష్యతి
యద్యుపాత్తేషు సమ్పత్తిరారాధయతి తద్విదః. 20

వ్యా. అత్ర= ఇచట చెప్పిన వర్ణనలతో, యైః కైశ్చిత్ అజ్ఞైః = ఏవో కొన్ని అంగములతో అనగా వర్ణనలతో, న్యూనమపి = తక్కువైనను, కావ్యం = కావ్యము, ఉపాత్తేషు = కవిచే స్వీకరింపబడిన వర్ణనలలోని, సమ్పత్తిః = సమృద్ధి, తద్విదః = కావ్య వేత్తలగు సహృదయులను, ఆరాధయతియది = ఆనందింపచేసినట్లైతే, న దుష్యతి = దుష్టముకాదు.

పైన చెప్పిన వర్ణనలలో ఏవో కొన్ని వర్ణనలే చేసినను, ఆ చేసినంత వరకు సహృదయాహ్లాదకములైనచో కావ్యము మంచిదే అని యర్థము.

"నావర్ణనం నగర్యాదేర్దోషాయ విదుషాం మతమ్,
యది శైలర్తురాత్र్యాదేర్వర్ణనేనైవ తుష్యతి".

అని భోజమహారాజు చెప్పినాడు.

మూ. గుణతః ప్రాగుపన్యస్య నాయకం తేన విద్విషామ్
నిరాకరణమిత్యేష మార్గః ప్రకృతిసున్దరః. 21.

వ్యా. గుణతః = గుణములచేత, నాయకం = నాయకుని, ప్రాక్ = ముందుగా, ఉపన్యస్య = వర్ణించి, తేన = ఆనాయకునిచే, విద్విషాం = శత్రువుల యొక్క, నిరాకరణం = పరాజయమును వర్ణించుట అను, ఏషః = ఈ, మార్గః = మార్గము, ప్రకృతిసున్దరః = స్వభావముచేతనే (సహజముగ) సుందరమైనది.

వి. రామాయణాదులలో వలె ముందుగ నాయకుని గుణగణాదులను బాగుగ వర్ణించి అతడు ప్రతినాయకుని జయించినట్లు వర్ణించుట సహజ సుందరమగు మార్గము.

మూ. వంశవీర్య శ్రుతాదీని వర్ణయిత్వా రిపోరపి
తజ్జయాన్నాయకోత్కర్ష కథనం చ ధినోతి నః. 22

వ్యా. రిపోః = శత్రువుయొక్క, అనగా ప్రతినాయకునియొక్క, వంశవీర్య శ్రుతాదీన్యపి = వంశము, వీర్యము, శాస్త్రపాండిత్యము మొదలగు విషయములను గూడ, వర్ణయిత్వా = వర్ణించి, తజ్జయాత్ = ఆతనిని జయించుట ద్వారా, నాయకోత్కర్షకథనంచ = నాయకుని గొప్పగా వర్ణించుట అనునది కూడ, నః = మమ్ములను, ధినోతి = ఆనందింప చేయుచున్నది.

వి. మహాభారతాదులందు వలె ముందుగా ప్రతినాయకుని పరాక్రమాదులను వర్ణించి ఆతనిని జయించుట ద్వారా నాయకుని ఉత్కర్షను వర్ణించినను మాకు అంగీకార్యమే. ఈ పద్ధతి భామహునకు అంగీకార్యము కాదు. (చూ.కావ్యాలంకారము 1-22:23)

మూ. అపాదః పదసన్తానో గద్యమాఖ్యాయికా కథా
ఇతి తస్య ప్రభేదౌ ద్వౌ తయో రాఖ్యాయికా కిల. 23

వ్యా. అపాదః = పద్యమునందు వలె పాదవిభజన లేని, పదసన్తానః = పదముల సముదాయము, గద్యమ్ = గద్యము. ఆఖ్యాయికా = ఆఖ్యాయిక

అనియు, కథా = కథ అనియు, తస్య = దానియొక్క, ద్వౌ = రెండు, ప్రభేదౌ కిల = భేదములట. 'కిల' అనుటచే ఈ విభాగము తనకు అనిష్ట మని సూచించబడినది. భామహుడు ఈ విభాగమును అంగీకరించినాడు. తయోః = ఆ రెండింటిలో, ఆఖ్యాయిక = ఆఖ్యాయిక-ఉత్తర శ్లోకముతో అన్వయము.

మూ. నాయకేనైవ వాచ్యాన్యా నాయకేనేతరేణ వా
స్వగుణావిష్క్రియా దోషో నాత్ర భూతార్థశంసినః. 24

వ్యా. (అఖ్యాయిక) నాయకేనైవ = నాయకుని చేతనే, వాచ్యా = చెప్పదగినది, అన్యా = రెండవది, కథ, నాయకేన = నాయకుని చేతగాని, ఇతరేణ వా = ఇతరునిచేగాని, చెప్పదగినది. అత్ర = ఈ కథయందు, భూతార్థ శంసినః = జరిగిన యథార్థ విషయమును చెప్పు నాయకునకు, స్వగుణావిష్క్రియాదోషః = తన గుణములను తానే చెప్పుకొనుట అనెడు దోషము, న = లేదు.

వి. ఆఖ్యాయికలో నాయకుడే స్వవృత్తాంతమును చెప్పును; కథలో నాయకుడు గాని, అన్యుడుగాని చెప్పును అని ఇచ్చట చెప్పబడినది. కాని భామహుడు "కథలో అన్యుడే నాయక వృత్తాంతమును చెప్పును, ఉదాత్త స్వభావము కలవాడు తన ప్రశంస తానే చేసికొన్నచో కదా!" అని చెప్పియున్నాడు. ఇట్టి భేదములను బట్టి దండి భామహమతమును కాక ఎవరో మరియొక ప్రాచీన రచయిత మతమును ఇచట చూపుచున్నాడని తెలియవలెను.

అవ. అఖ్యాయికకును కథకును ప్రాచీనులు చెప్పిన భేదము అసంగతమని చెప్పుచున్నాడు.

మూ. అపి త్వనియమో దృష్ట స్తత్రా ప్యన్యై రుదీరణాత్
అన్యో వక్తా స్వయం వేతి కీదృగ్వా భేదకారణమ్. 25

వ్యా. అపితు = కాని, తత్రాపి = ఆఖ్యాయిక విషయమున గూడ, అన్యైః = నాయకేతరులచేత గూడ, ఉదీరణాత్ = వృత్తాంతము చెప్పబడుటచే, అనియమః = ఆఖ్యాయికలో నాయకుడు చెప్పును, కథలో నాయకుడు కాని అన్యుడు కాని

చెప్పును అని నియమముయొక్క అభావము, దృష్టః = చూడబడినది. అనగా నాయకేతరుడు వక్తగాగల ఆఖ్యాయికలు కూడ ఉన్నవి. వక్తా = వక్త, అన్యః = అన్యుడా, స్వయంవా = తానేనా, ఇతి = అనునది, కీదృక్వా = ఎంతటి, భేదకారణమ్ = భేదకారణము? ఇదియొక భేదహేతువా అని యర్థము.

మూ. వక్త్రం చాపరవక్త్రం చ సోచ్ఛ్వాసత్వం చ భేదకమ్
చిహ్నా మాఖ్యాయికాయాశ్చేత్ప్రసఙ్గేన కథాస్వపి. 26

ఆర్యాదివత్ ప్రయోగః కిం న వక్త్రాపరవక్త్రయోః
భేదశ్చ దృష్టో లమ్బాదిరుచ్ఛ్వాసో వాస్తు కిం తతః 27

వ్యా. వక్త్రమ్ = వక్త్రచ్ఛందస్సు, అపరవక్త్రం చ = అపర వక్త్రచ్ఛందస్సు, సోచ్ఛ్వాసత్వం చ = ఉచ్ఛ్వాసములనెడు ప్రకరణ నామధేయములు కలిగి యుండుటయు, ఆఖ్యాయికాయాః = ఆఖ్యాయికయొక్క, చిహ్నం చేత్ = చిహ్న మైనచో, ప్రసంగేన = ప్రసంగ వశముచేత, కథాస్వపి = కథలయందు కూడ, వక్త్రాపర వక్త్రయోః = వక్త్రాపర వక్త్రచ్ఛందస్సుల, ప్రయోగః = ప్రయోగము, కింన = ఏల ఉండకూడదు? లమ్బాదిః = లంబకము మొదలగునది గాని, ఉచ్ఛ్వాసః వా = ఉచ్ఛ్వాసమను పేరుగలదిగాని, భేదః = ప్రకరణ (విభాగ) నామభేదము, దృష్టః = ఉపలభ్యమానమగు విధముగ, అస్తు = ఉండుగాక. తతః = నామమాత్ర భేదము వలన, కిమ్ = ఏమి?

వి. వక్త్రాపరవక్త్రములను ఆఖ్యాయికలోనే ప్రయోగింపవలెనని నియమమేమి ఉన్నది. ఆర్యాఛందస్సును ప్రయోగించినట్లే పై ఛందస్సులను కూడ కథలో ప్రయోగించినంత మాత్రమున దోషమేమి? అట్లే అఖ్యాయికలోని ప్రకరణములకు ఉచ్ఛ్వాసమని పేరు పెట్టవలెననియు, కథలోని ప్రకరణములకు లంబమని పేరు పెట్టవలెననియు కథాఖ్యాయికలకు భేదము నంగీకరించువారు చెప్పుదురు. నామ మాత్రభేదముచే ప్రయోజనమేమి అని అర్థము.

మూ. తత్ కథాఖ్యాయి కేత్యేకా జాతిః సంజ్ఞాద్వయాఙ్కితా

అత్రైవాన్తర్భవిష్యన్తి శేషాశ్చాఖ్యానజాతయః **28**

వ్యా. తత్ = ఆకారణము వలన, కథా ఆఖ్యాయికేతి = కథయు, ఆఖ్యాయికయు అని, సంజ్ఞాద్వయాఙ్కితా = రెండు సంజ్ఞలతో చిహ్నితమైన (అనగా రెండు పేర్లు పెట్టిన), ఏకా = ఒక్క, జాతిః = జాతియే. శేషాః = మిగిలిన, ఆఖ్యాన జాతయః = అగ్ని పురాణాదులలో – ***"ఆఖ్యాయికా కథా ఖణ్డకథా పరికథా తథా. కథాలికేతి మన్యన్తే గద్యకావ్యఞ్చ పఞ్చధా"*** అని చెప్పిన ఖండకథ, పరికథ, కథాలిక మొదలగు ఇతర ఆఖ్యానజాతులు కూడ, అత్రైవ = దీనియందే (కథ యందే) అన్తర్భవిష్యన్తి = అంతర్గతము లగును.

మూ. కన్యాహరణసఙ్గ్రామవిప్రలమ్భోదయాదయః
సర్గబన్ధసమా ఏవ నైతే వైశేషికా గుణాః. **29**

వ్యా. కన్యా..... ఉదయాదయః = కన్యాహరణము, యుద్ధము, విప్ర లంభము, నాయకాభ్యుదయము మొదలగునవి, సర్గబంధ సమాః ఏవ = సర్గబంధముతో, అనగా మహాకావ్యముతో, సమానమైతేనవే. ఏతే = ఇవి, వైశేషికాః గుణాః = ఆఖ్యాయికకు మాత్రమే సంబంధించిన గుణ విశేషములు, న = కాదు.

వి. భామహుడు ఆఖ్యాయికాలక్షణము చెప్పుచు ***"కన్యాహరణ సంగ్రామ విప్రలమ్భోదయాన్వితా"*** అని చెప్పినాడు. దండి మనస్సులో భామహుడున్నాడా మరియెవరైన ఉన్నారా– అనునది స్పష్టముకాదు. కన్యాహరణాదులు మహా కావ్యములో ఉండవచ్చును గాన ఆఖ్యాయికలో మాత్రమే ఉండవలె నను నియమ మేమి అని యర్థము. కథాఖ్యాయికలకు భేదము చెప్పువారు ఇవి సర్గబంధములో ఉండవచ్చును కాని కథలో ఉండకూడదు అని సమాధానము చెప్పవచ్చును కదా?

మూ. కవిభావకృతం చిహ్నమన్యత్రాపి న దుష్యతి
ముఖమిష్టార్థసంసిద్ధ్యై కిం హి న స్యాత్ కృతాత్మనామ్. **30**

వ్యా. ***'కవేరభిప్రాయకృతైః కథనైః కైశ్చిదఙ్కితా'*** అని భామహుడు చెప్పినాడు. కవి తన అభిప్రాయమునకు అనుగుణముగా కొన్ని పదములను ఆఖ్యాయికలో

అక్కడక్కడ చిహ్నముగా కూర్చుచుండవలెను అని యర్థము. ఈ వాక్యమునో లేదా ఏతదర్థకమగు ప్రాచీనుల వాక్యమునో మనస్సులో నుంచుకొని చెప్పుచున్నాడు. కవిభావకృతం = కవియొక్క భావముచే కూర్చబడిన, చిహ్నం = చిహ్నము, అన్యత్రాపి = కథాదులందు కూడ, న దుష్యతి = దోషము కాజాలదు. కృతాత్మనాం = బుద్ధిమంతులకు, ఇష్టార్థ సంసిద్ధ్యై = వారికి అభీష్టమగు విషయము సిద్ధించుటకై, కిం = ఏది, ముఖం = ద్వారము, న స్యాత్ = కాజాలదు?

వి. స్వతంత్రుడును, బుద్ధిమంతుడును అగు కవి ఇష్టార్థమును సాధించుటకై అనగా మంగళరూపమగు ఫలమునుకాని, మరియొక ఏదైన ఫలమునుగాని సాధించుటకై, ఎట్టి కావ్యమునందైనను చిహ్నాదులను చేర్చవచ్చును. భారవి కిరాతార్జునీయమున సర్గాంతపద్యమునందు 'లక్ష్మీ' శబ్దమును, మాఘుడు 'శ్రీ' శబ్దమును అట్లే ఇతరులును ప్రయోగించినారు. అందుచే ఆఖ్యాయికలోనే అట్టి చిహ్నముంచ వలెనని నియమము లేదు.

మూ. మిశ్రాణి నాటకాదీని తేషా మన్యత్ర విస్తరః
గద్యపద్యమయీ కాచిచ్చమ్పూరిత్య భిధీయతే. **31**

వ్యా. మిశ్రాణి = గద్యపద్య మిశ్రములైనవి, నాటకాదీని = నాటకాది రూపకములు. తేషాం = వాటికి సంబంధించిన, విస్తరః = విస్తృత వర్ణనము, అన్యత్ర = నాట్యశాస్త్రాదులలో చేయబడినది. కాచిత్ = ఒకవిధమైన, గద్య పద్యమయీ = గద్యపద్యరూపమగు రచన, చమ్పూరితి = చంపువు అని, అభిధీయతే = చెప్పబడును.

మూ. తదేతద్వాఙ్మయం భూయః సంస్కృతం ప్రాకృతం తథా
అపభ్రంశశ్చ మిశ్రం చేత్యాహురార్యాశ్చతుర్విధమ్. **32**

వ్యా. తత్ = ఆ, అనగా ఇంతవరకును చెప్పబడిన, ఏతత్ = ఈ, వాఙ్మయం = వాఙ్మయము, సంస్కృతం = సంస్కృత మనియు, ప్రాకృతం = ప్రాకృత మనియు, తథా = మరియు, అపభ్రంశశ్చ = అపభ్రంశమనియు, మిశ్రంచ =

సంస్కృతాది వివిధ భాషామిశ్ర మనియు, భూయః = మరల, చతుర్విధం = నాలుగు విధములైనది, ఇతి = అని, ఆర్యాః = కావ్యస్వరూపజ్ఞులు, ఆహుః చెప్పుదురు.

మూ. సంస్కృతం నామ దైవీవాగన్వాఖ్యాతా మహర్షిభిః
తద్భవ స్తత్సమో దేశీత్యనేకః ప్రాకృతక్రమః 33

వ్యా. సంస్కృతం నామ = సంస్కృత మనగా, మహర్షిభిః = మహర్షులచేత, యాస్కపాణి న్యాదులచేత, అన్వాఖ్యాతా = ప్రకృతి ప్రత్యయాది విభాగముతో నిర్వచింపబడిన, దైవీవాక్ = దేవతలచే వ్యవహరింపబడు వాక్కు లేదా సంస్కృత మనగా దేవతల భాషయని మునులు చెప్పుదురు అని అర్థము కూడ చెప్ప వచ్చును. మొదటి అర్థము యుక్తతరము. తద్భవః = సంస్కృత భాషాజన్య మనియు, తత్సమః = సంస్కృత సమమనియు, దేశీతి = దేశసంబద్ధ మనియు, ప్రాకృతక్రమః = ప్రాకృతభాషల క్రమము, అనగా విభాగము, అనేకః = అనేక విధములైనది. 'హస్త' 'కర్ణ' మొదలగు శబ్దములనుండి జనించిన 'హత్త' 'కణ్ణ' మొదలగు ప్రాకృత శబ్దములు సంస్కృత భవములు. అనగా సంస్కృతమునుండి జనించి కొంచెము మార్పు చెందునవి. కొన్ని సంస్కృత పదములనే యథా తథముగ ప్రాకృత భాషలలో ప్రయోగింతురు. అవి సంస్కృత సమములు. సంస్కృతముతో పూర్వోక్త విధమగు సంబంధ మేమియు లేనివియు, కొన్ని ప్రాంతములలో ప్రచారములో నున్నవియు ఐన శబ్దములు దేశ్యములు. ప్రాకృతు లనగా గ్రామ్యజనులు. వారిచే వ్యవహరింపబడునది గాన ప్రాకృతమని కొందరు చెప్పుదురు. సంస్కృతము ప్రకృతి, అనగా మూలకారణము. దానినుండి పుట్టినది గాన ప్రాకృతమని కొందరు చెప్పుదురు. ప్రాకృతభాషనే సంస్కరింపగా సంస్కృత మైనదనియు, అందుచే సంస్కృతమునకు ప్రాకృతమే ప్రకృతి యనియు కొందరు చెప్పుదురు.

మూ. మహారాష్ట్రాశ్రయాం భాషాం ప్రకృష్టం ప్రాకృతం విదుః
సాగరః సూక్తి రత్నానాం సేతుబన్ధాది యన్మయమ్. 34

వ్యా. యన్మయమ్ = ఏ మహారాష్ట్రభాషలో రచించిన, సేతుబన్ధాది = 'సేతు బంధము' అను ప్రవరసేన రచితమగు కావ్యము మొదలగునవి, సూక్తి రత్నానాం = సూక్తిరత్నములకు, సాగరః = సముద్రమో అట్టి, మహారాష్ట్రాశ్రయాం = మహారాష్ట్ర దేశమునకు సంబంధించిన, భాషాం = భాషను, ప్రకృష్టం = ఉత్తమమైన, ప్రాకృతం = ప్రాకృతమునుగా, విదుః = చెప్పుచున్నారు. 'సేతు బన్ధాది' అనునపుడు 'ఆది' పదముచే 'గాథా సప్తశతి' మొదలగు కావ్యములు గ్రాహ్యములు.

మూ. శౌరసేనీ చ గౌడీ చ లాటీ చాన్యా చ తాదృశీ
యాతి ప్రాకృతమిత్యేవ వ్యవహారేషు సన్నిధిమ్. 35

వ్యా. శౌరసేనీ = శౌరసేనియు, గౌడీ = గౌడభాషయు, లాటీ = లాటియు, తాదృశీ = అట్టిదేయైన, అన్యాచ = ఇతరమైన భాషయు, ప్రాకృత మిత్యేవ = ప్రాకృతమనియే, వ్యవహారేషు = లోకవ్యవహారములందు, సన్నిధిం = సంబంధ మును, యాతి = పొందుచున్నది. ఈ భాషలన్నియు ప్రాకృతమని వ్యవహరింప బడుచున్నది.

"మాగధ్యవన్తిజా ప్రాచ్యా శూరసేనార్ధమాగధీ
బాహ్లీకా దాక్షిణాత్యా చ సప్త భాషాः ప్రకీర్తితాः"

అని నాట్యశాస్త్రమున ఏడు ప్రాకృతభాషలు చెప్పబడినవి. ఈవిధముగ ప్రాకృత భాషలన్నియు దేశనామములతో ముడివడి ఉన్నవి.

మూ. అభీరాదిగిరः కావ్యేష్వపభ్రంశ ఇతి స్మృతాः
శాస్త్రేషు సంస్కృతాదన్య దపభ్రంశతయోదితమ్. 36

వ్యా. ఆభీరాదిగిరः = ఆభీరులు, అనగా గోపాలురు మొదలగువారి భాషలు, 'ఆది' శబ్దముచే, శబర శక చండాలాదులకు గ్రహణము, అపభ్రంశः ఇతి = అపభ్రంశభాష అని, కావ్యేషు = కావ్యములందు, స్మృతాः = చెప్పబడినవి, సంస్కృతాత్ = సంస్కృతము కంటె, అన్యత్ = భిన్నమైన ప్రతియొక్క భాషయు, శాస్త్రేషు = శాస్త్రములందు, అపభ్రంశతయా = అపభ్రంశ భాషగా, ఉదితమ్

= చెప్పబడినది. ఆభీరాది జాతులవారు మాటలాడు భాషలకు అపభ్రంశ మని కావ్యములలో వ్యవహారము. కాని శాస్త్రములలో, సంస్కృత భిన్నములగు భాష లన్నింటికి (ప్రాకృతములతో సహా) అపభ్రంశ భాషలే అని వ్యవహారము.

మూ. సంస్కృతం సర్గబన్ధాది ప్రాకృతం స్కన్ధకాది యత్
ఓసరాదిరపభ్రంశో నాటకాది తు మిశ్రకమ్. 37

వ్యా. సర్గబంధాది = మహాకావ్యాదికము, సంస్కృతం = సంస్కృత భాష యందే ఉండును. ***"సర్గబంధో మహాకావ్య మారబ్ధం సంస్కృతేన యత్. తద్భవం న విశేత్తత్ర తత్సమం నాపి కించన"*** అని ఆగ్నేయపురాణము. మహా కావ్యములో సంస్కృతమునకే కాని, తద్భవ - తత్సమములకు ప్రవేశము లేదు అని అర్థము. యత్ = ఏ, స్కన్ధకాది = స్కంధకమను ఛందస్సులో రచింపబడునో అది, ప్రాకృతం = ప్రాకృతభాషలో ఉండును. ***"ఛన్దసా స్కన్ధ కేనైతత్ క్వచిద్గలితకై రపి"*** అని చెప్పబడినది. 'సేతుబంధము' మొదలగునవి ఉదాహరణము. ఓసరాదిః = ఓసరచ్ఛందస్సు మొదలగు వాటిలో కూర్చినది, అపభ్రంశః = అపభ్రంశ భాషలో ఉండును. అపభ్రంశ కావ్యములోని సర్గలకు 'కుడవకములు' అని పేరు.

"అపభ్రంశాభిధానేఽస్మిన్ సర్గాః కుడవకాభిధాః
తథాపభ్రంశయోధ్యాని ఛన్దాంసి వివిధాని చ".

కర్ణపరాక్రమాదికములు అపభ్రంశకావ్యములకు ఉదాహరణము. నాటకాది = నాటకము మొదలగు రూపకములు, మిశ్రకం = వివిధ భాషల కలయికతో రచింపబడును. పాత్రభేదమును పట్టి నాటకాదులలో భాషాభేద ముండును అని సాహిత్య దర్పణము చెప్పుచున్నది.

"పురుషాణా మనీచానాం సంస్కృతం స్యాత్ కృతాత్మనామ్
శౌరసేనీ ప్రయోక్తవ్యా తాదృశీనాం చ యోషితామ్.
ఆసామేవ తు గాథాసు మహారాష్ట్రీం ప్రయోజయేత్
అత్రోక్తా మాగధీభాషా రాజాన్తఃపురచారిణామ్.
చేటానాం రాజపుత్రాణాం శ్రేష్ఠినాం చార్ధమాగధీ

ప్రాచ్యా విదూషకాదీనాం ధూర్తానాం స్యాదవన్తికా.
యోధనాగరికాదీనాం దాక్షిణాత్యా హి దీవ్యతామ్
శబరాణాం శకాదీనాం శాబరీం సమ్ప్రయోజయేత్".

మూ. కథా హి సర్వభాషాభిః సంస్కృతేన చ బధ్యతే
భూతభాషామయీం ప్రాహురద్భుతార్థాం బృహత్కథామ్. 38

వ్యా. కథా = కథ, సర్వభాషాభిః = అన్నిభాషలచేత (భాషలందును), సంస్కృతేన చ = సంస్కృతము చేతను, బధ్యతే = కూర్పబడును, 'హి' అనునది ప్రసిద్ధి ద్యోతకము. భూతభాషామయీమ్ = పైశాచభాషలో వ్రాయబడిన, అద్భుతార్థామ్ = అద్భుతమైన విషయముగల కథను, బృహత్కథామ్ = బృహత్కథనుగా లేదా బృహత్కథను భూతభాషామయమైన దానినిగా, ప్రాహుః = చెప్పుదురు. (ఈ బృహత్కథ ఇపుడు లభ్యము కాదు.)

మూ. లాస్యచ్ఛలితశమ్బాది ప్రేక్షార్థమితరత్ పునః
శ్రవ్యమేవేతి సైషైవ ద్వయీ గతిరుదాహృతా. 39

వ్యా. లాస్య - చ్ఛలిత - శమ్బాది = లాస్యము, ఛలితమూ, శంప మొదలగునది, ప్రేక్షార్థం = చూచుట కొరకు ఉద్దిష్టమైనది. అనగా దృశ్యము. ఇతరత్ పునః = లాస్యాదులకంటె భిన్నమైన సర్గబంధాదిక మైతే, శ్రవ్యమేవ = వినుటకు మాత్రమే ఉపయోగించునది. ఇతిఈవిధముగ, ఏషా = ఈ, ద్వయీ = ద్వివిధమగు, గతిః అపి = పద్ధతికూడ, అనగా దృశ్యకావ్యము, శ్రవ్య కావ్యము అను విభాగము కూడ, ఉదాహృతా = చెప్పబడినది.

శృంగారరసప్రధాన మగు స్త్రీజననృత్యము లాస్యము ***"లాసః స్త్రీ పుంస యోర్భావః తదర్హం తత్ర సాధు వా. లాస్యం మనసిజోల్లాసకరం మృద్వఙ్గ హాసవత్ దేవ్యై దేవోపదిష్టత్వాత్ ప్రాయః స్త్రీభిః ప్రయుజ్యతే."*** అనియు, ***"కోమలం మధురం లాస్యం శృఙ్గారరససంయుతమ్. గౌరీతోషకరం చాపి స్త్రీనృత్యం తు తదుచ్యతే"*** అనియు లాస్యస్వరూపము చెప్పబడినది. "పుంనృత్యం ఛలితం ప్రాహుః" అని చెప్పిన ప్రకారముగ పురుషనృత్యమునకు ఛలితమని పేరు. కొందరు 'ఛలికం'

అను పాఠమును గ్రహించి **"ఛలికం ఛద్మనా నృత్తంసూరయ స్తద్విదో విదుః"** అని చెప్పిన విధమున ఏదియో ఒక మిషచే గూఢ భావమును తెలుపుటకై చేయు నాట్యవిశేషమని చెప్పుదురు. 'శమ్పా' అనగా పూర్వరంగాంతర్గత మగు వాద్య ప్రయోగ విశేషము. **"శమ్పాతు ద్వికలా కార్యాతాలో ద్వికల ఏవ చ, పునశ్చైకకలా శమ్పా సన్నిపాతః కలాత్రయమ్".** 'ఆది' అనుటచే తాండవ - హల్లీసక - రాసకములను గ్రహించవలెను. **"వీరరౌద్రరసాధారమద్భుతం శఙ్కర ప్రియమ్'. పురుషేణ సమారబ్ధం నృత్యం తాణ్డవముచ్యతే", "మణ్డలేన తు యత్ స్త్రీణాం నృత్యం హల్లీసకం తు తత్, తత్ర నేతా భవేదేకో గోపస్త్రీణాం యథా హరిః"** అని చెప్పిన విధమున తాండవ మనగా వీరరౌద్రరసప్రధాన మగు పురుష నాట్యము, హల్లీసక మనగా ఒక పురుషుడు మధ్య నిలిచి నాయకత్వము చేయు చుండ స్త్రీలు మండలాకారముగ ఏర్పడి చేయు నాట్యము. తాలబంధ విశేషముతో కూడిన హల్లీసకమే రాసకము.

మూ. అస్త్యనేకో గిరాం మార్గః సూక్ష్మభేదః పరస్పరమ్.
తత్ర వైదర్భగౌడీయౌ వర్ణ్యేతే ప్రస్ఫుటాన్తరౌ. 40

వ్యా. పరస్పరం = పరస్పరము, సూక్ష్మభేదః = సూక్ష్మమైన భేదము గల, అనేకః = అనేకవిధమైన, గిరాంమార్గః = వాక్కుల యొక్క మార్గము, కావ్యరీతి, అస్తి = ఉన్నది, తత్ర = అందు, ప్రస్ఫుటాన్తరౌ = స్పష్టముగ కనబడుభేదము గల, వైదర్భగౌడీయౌ = వైదర్భగౌడ మార్గములు, వర్ణ్యేతే = చెప్పబడుచున్నవి.

మూ. శ్లేషః ప్రసాదః సమతా మాధుర్యం సుకుమారతా
అర్థవ్యక్తి రుదారత్వ మోజః కాన్తి సమాధయః 41

ఇతి వైదర్భ మార్గస్య ప్రాణా దశ గుణాః స్మృతాః
ఏషాం విపర్యయాః ప్రాయో దృశ్యతే గౌడవర్త్మని. 42

వ్యా. శ్లేషము, ప్రసాదము, సమత, మాధుర్యము, సుకుమారత, అర్థవ్యక్తి, ఉదారత్వము, ఓజస్సు, కాంతి, సమాధి, ఇతి = ఈవిధముగా, దశ గుణాః

= పది గుణములు,, వైదర్భమార్గస్య = వైదర్భ మార్గమునకు, ప్రాణాః = ప్రాణములుగా, స్మృతాః = చెప్పబడినవి. ప్రాయః = సాధారణముగా, గౌడవర్త్మని = గౌడ మార్గమునందు, ఏషాం = ఈగుణములకు, విపర్యయః = వ్యత్యాసము, దృశ్యతే = కనబడుచున్నది. ఈ దశగుణములను భరతుడు కూడ నాట్యశాస్త్రమున చెప్పి ఉన్నాడు. **"శ్లేషః ప్రసాదః సమతా సమాధిర్మాధుర్యమోజః పదసౌకుమార్యమ్, అర్థస్య చ వ్యక్తిరుదారతా చ కాన్తిశ్చ కావ్యార్థ గుణా దశైతే."** ఈ పది గుణములలో శ్లేష - ప్రసాద - సుకుమారతా - ఓజస్సులు శబ్దగుణములు. ప్రసాద - అర్థవ్యక్తి - ఉదారతా - కాంతి - సమాధులు అర్థగుణములు. మాధుర్యము ఉభయగుణము అని దండి మతము. వామనాదులు పది శబ్దగుణములను, పది అర్థగుణములను అంగీకరింతురు.

మూ. శ్లిష్టమస్పృష్ట శైథిల్య మల్ప ప్రాణాక్షరోత్తరమ్
శిథిలం "మాలతీ మాలా లోలాలికలిలా" యథా. 43

వ్యా. అస్పృష్టశైథిల్యం = స్పృశింపబడని శైథిల్యము కలది, శ్లిష్టం = శ్లేష గుణము కలది. ఇపుడు శైథిల్యమనగా ఏదియో చెప్పుచున్నాడు - అల్పప్రాణాక్ష రోత్తరం = అధికముగ అల్ప ప్రాణాక్షరములు గలది, శిథిలం = శిథిలము, కవర్గాది వర్గపంచకములోని ప్రథమ - ద్వితీయ - పంచమవర్ణములకు, యరలవలకును అల్పప్రాణము అని పేరు. ఆ వర్ణములు అధికముగ కూర్చి చేసిన రచన శిథిలముగ నుండును. ఎట్లనగా - లోలాలికలిలా = చంచలములైన తుమ్మెదలచే వ్యాప్తమైన, మాలతీమాలా = మాలతీ కుసుమమాల. "మాలతీమాలా లోలాలికలిలా" అనునపుడు అల్పప్రాణాక్షరములే ఉన్నవి గాన ఇది శిథిలము. అందుచే ఇందులో శ్లేషము అను గుణము లేదు.

మూ. అనుప్రాసధియా గౌడై స్తదిష్టం బన్ధగౌరవాత్
వైదర్భైర్మాలతీ దామ లఙ్ఘితం భ్రమరైరితి. 44

వ్యా. అనుప్రాసధియా = అనుప్రాస మున్నదికదా అను అభిప్రాయముచే, తత్ = 'మాలతీమాలా' ఇత్యాది విధమగు శిథిలరచన, గౌడైః = గౌడులచే, ఇష్టం

= అంగీకరింపబడినది. కాని, వైదర్భైః = వైదర్భులచేత, "మాలతీదామ లఙ్ఘితం భ్రమరైః", ఇతి = భ్రమరములచే మాలతీ మాల లంఘింపబడెను" అనునది, అనగా మహాప్రాణములైన ఘకార భకారముల కలయికచే బంధములో ఒక విధమగు బిగువు ఏర్పడి శ్లేషగుణ సహితముగనున్న రచన, బన్ధగౌరవాత్ = బంధమునందలి గౌరవముచే, వైదుర్భులకు అనుప్రాసము కంటె బంధము ప్రియమగుటచే, (ఇష్టం = అంగీకరింపబడినది).

మూ. ప్రసాదవత్ ప్రసిద్ధార్థ మిన్దోరిన్దీవరద్యుతి
లక్ష్మ లక్ష్మీం తనోతీతి ప్రతీతిసుభగం వచః. 45

వ్యా. ప్రసిద్ధార్థం = ప్రసిద్ధమైన అర్థము కలది, అనగా అనేకార్థ పదములను ప్రయోగింపక పోవుటచేతను, అధికపదత్వ - కష్టత్వాది దోషములు లేకపోవుట చేతను చదివిన వెంటనే అర్థస్ఫూర్తి కలిగించునది, ప్రసాదవత్ = ప్రసాద మనుగుణము కలది. ఇన్దీవరద్యుతి = నల్లకలవ వంటి కాంతిగల, ఇన్దోః = చంద్రునియొక్క, లక్ష్మ = చిహ్నము, లక్ష్మీం = శోభను, తనోతి = చేయు చున్నది, ఇతి = ఈవిధమగు, వచః = వాక్కు, ప్రతీతి సుభగం = అర్థము వెంటనే స్ఫురించుటచే సుందరమైనది.

మూ. వ్యుత్పన్నమితి గౌడీయైర్నాతిరూఢ మపీష్యతే
యథా నత్యర్జునాబ్జన్మ సదృక్షాబ్జో వలక్షగుః 46

వ్యా. నాతిరూఢమపి = ఎక్కువ ప్రసిద్ధార్థము కానిదికూడా, వ్యుత్పన్నమితి = అవయవార్థము కలదికదా అను కారణముచే, గౌడైః = గౌడులచే, ఇష్యతే = అంగీకరింపబడును. యథా = ఎట్లనగా, వలక్షగుః = తెల్లని కిరణములుగల చంద్రుడు, *"వలక్షాः గావः యస్య సः"*, అనత్యర్జునా బ్జన్మ సదృక్షాబ్జః = ఎక్కువ తెల్లగా లేని పద్మముతో సమానమైన అంకము కలవాడు.

'అర్జున' శబ్దమునకు కార్తవీర్యుడు, లేక భీమానుజుడు అను అర్థము ప్రసిద్ధము. 'తెల్లని' అను అర్థము అప్రసిద్ధము కావున నిహతార్థత్వదోషము. అబ్జన్మ శబ్దము ("అప్సు జన్మ యస్య తత్") కమలరూపార్థమునకు అవాచకము. 'అబ్జన్మాబ్జః'

(అబ్జ న్మేవ అబ్జః యస్య సః) అను బహువ్రీహిచేతనే సదృశత్వ రూపార్థము లభించు చుండగా, మరల 'సదృశ' శబ్ద ప్రయోగము అనావశ్యకము. అందుచే అధికపదతా దోషము. వలక్షశబ్దము శ్రుతికటువు కూడ. 'వలక్షగు' శబ్దమునందు కూడ అప్రయుక్తతాదోష మున్నది. ఈవిధముగ అనేక దోషము లున్నను, అవయవా ర్థాదులచే అర్థబోధను కలిగించుచున్నది గాన ఇట్టి రచన గ్రాహ్యమేయని గౌడుల అభిప్రాయము. వాస్తవమున - 'గౌడీ' రీతిని అంగీకరించు వారు ప్రసాద గుణమునకు ప్రాధాన్య మీయకపోయినను, ఇట్టి దోషములు పరిహార్యములని వారు కూడ అంగీకరింతురు. అందుచే ఇట్టి రచనను సత్కావ్య మని వారు కూడా అంగీకరింపరు. ఇది దండి కేవలము తనకు గల వైదర్భీ పక్షపాతముచే, గౌడీ పరిహాసార్థమై, చెప్పిన ఉదాహరణము.

మూ. సమం బన్ధేష్వవిషమం తే మృదుస్ఫుటమధ్యమాः
బన్ధా మృదుస్ఫుటోన్మిశ్రవర్ణవిన్యాసయోనయః. 47

వ్యా. బన్ధేషు = బంధములందు, అవిషమమ్ = వైషమ్యములేనిది, సమమ్ = సమము. మొదట ఎట్టి బంధముతో ప్రారంభము చేయబడునో ఆ బంధమునే చివరివరకును నడిపినచో అది సమము. మృదుస్ఫుటోన్మిశ్ర వర్ణ విన్యాస యోనయः = మృదువులు, వికటములు, మిశ్రములు అయిన వర్ణముల విన్యాసమువలన ఏర్పడు, తే = అవి, మృదుస్ఫుటమధ్యమాः = మృదువు, స్ఫుటము, మధ్యమము అను, బన్ధాः = బంధములు. హ్రస్వస్వరములు, వర్గ పంచమాక్షరములు, దంత్యవ్యంజనములు (త వర్గము) మృదువర్ణములు. దీర్ఘస్వరములు, ఓష్ఠ్య వ్యంజనములు (పవర్గము) ఠ-ఢ-శ-ష-స-హలు వికట వర్ణములు. ఇవి కలిసినచో మిశ్రవర్ణములు. ఇచట వర్ణశబ్దము సమాస రాహిత్య - దీర్ఘసమాస మధ్యమ సమాసములకు ఉపలక్షణము. కావున మృదువర్ణములతో కూర్చిన సమాసరహితమగు రచన మృదుబంధము. వికటవర్ణములతో కూర్చిన దీర్ఘసమాస యుతమగు రచన స్ఫుటబంధము. మిశ్రమవర్ణములతో కూర్చిన మధ్యమ సమాస యుతమగు రచన మధ్యమ బంధము. కావున ప్రారంభించిన బంధమునే చివరి వరకును నడిపినచో అది సమతా గుణము.

మూ. కోకిలాలాపవాచాలో మామైతి మలయానిలః
ఉచ్ఛలచ్ఛీకరాచ్ఛచ్ఛ నిర్ఝరామ్భఃకణోక్షితః. 48
చన్దన ప్రణయోద్గన్ధిర్మన్దో మలయమారుతః.

వ్యా. కోకిలాలాప వాచాలః = కోకిలల ధ్వనులచే – వాచాలముగ (మాటలు ఎక్కువగ చెప్పునదిగ) ఉన్న, మలయానిలః = మలయవాయువు, మాం = నన్ను, ఐతి = పొందుచున్నది. ఈ శ్లోకార్ధమును మృదుబంధముతో ప్రారంభించి దాని తోడనే ముగించుటచే ఇది మృదుబంధ రూపమగు సమత, ఉచ్ఛల ... ఉక్షితః = ఎగురుచున్న తుంపరలుగల తెల్లని, నిర్మలమైన, సెలయేళ్ల జలకణములచే తడిసిన, (మలయానిలః మాం ఐతి అను దానితో అన్వయము) ఈ శ్లోకార్ధమును స్ఫుటాక్షరములతో ప్రారంభించి, అట్లే ముగించుటచే స్ఫుటబంధ రూపసమత. చన్దన ప్రణయోద్గన్ధిః = చందన వృక్షముల ప్రణయముచే సుగంధముతో నిండిన, మన్దః = మందమైన, మలయ మారుతః = మలయవాయువు, ('మామైతి' అనుదానితో అన్వయము). ఈ శ్లోకార్ధము, ప్రారంభమునందు బంధము స్ఫుటము. అంతమున మృదువు. అందుచే మిశ్రము.

మూ. స్పర్ధతే రుద్ధమ ద్ధైర్యో వరరామాముఖానిలైః. 49
ఇత్యనాలోచ్య వైషమ్యమర్థాలఙ్కారదమ్బరౌ,
అపేక్షమాణా వవృధే పౌరస్త్యా కావ్యపద్ధతిః. 50

వ్యా. రుద్ధమద్ధైర్యః = అరికట్టబడిన నా ధైర్యము కలదై, (మలయ మారుతము), వరరామాముఖానిలైః = ఉత్తమ స్త్రీల ముఖవాయువులతో, స్పర్ధతే = పోటీ చేయుచున్నది. ఇచట **'స్పర్ధతే రుద్ధమద్ధైర్యః'** వికటబంధము, **"వరరామా ముఖానిలైః"** అనునపుడు మృదుబంధము ఉండుటచే బంధవైషమ్యమున్నది. ఇతి = ఈవిధముగ నున్న, వైషమ్యం = బంధ వైషమ్యమును, అనాలోచ్య = లెక్క చేయక, అర్థాలఙ్కారడమ్బరౌ = అర్థాలంకారమును శబ్దాడంబరమును, అపేక్ష మాణా = కోరుచున్నదై, పౌరస్త్యా కావ్యపద్ధతిః = గౌడీయకావ్యరీతి, వవృధే = వృద్ధిపొందినది. పై ఉదాహరణములో అతిశయోక్తి, శబ్దాడంబరము ఉన్నవి. గౌడులు ఇట్టి రచనకే ప్రాధాన్య మిత్తురు. కాని వైదర్భరీతిలో అర్థమునకు ఎక్కువ ప్రాధాన్యము ఇచ్చుటచే, శబ్దాడంబరరూపమగు అనుప్రాసాదులకు అవకాశము లేదని భావము.

అవ. మాధుర్యమును నిరూపించుచున్నాడు.

మూ. మధురం రసవద్వాచి వస్తున్యపి రసస్థితిః
యేన మాద్యన్తి ధీమన్తో మధునేవ మధువ్రతాః. 51

వ్యా. రసవత్ = రసముగల వాక్యము, మధురం = మధురము. అనగా రసము కలిగియుండుట మాధుర్యము. వాచి = శబ్దమునందును, వస్తున్యపి = అర్థమునందునుగూడ, రసస్థితిః = రసముయొక్క స్థితికి అవకాశమున్నది. యేన = ఏ రసముచే, ధీమన్తః = సహృదయులు, మధువ్రతాః = తుమ్మెదలు, మధునేవ = మకరందముతోవలె, మాద్యన్తి = మత్తులగుదురో, "వాచి వస్తున్యపి రసస్థితిః" అని చెప్పుటచే రసానుగుణమైన శబ్దార్థముల కూర్పు మాధుర్యమని చెప్పినట్లైనది.

మూ. యయా కయాచిచ్ఛ్రుత్యా యత్సమానమనుభూయతే
తద్రూపా హి పదాసత్తిః సానుప్రాసా రసావహా. 52

వ్యా. యయా కయాచిత్ = ఏదియో ఒక, శ్రుత్యా = కంఠ్యతాలవ్యాది రూపమైన వర్ణముల ఉచ్చారణముతో, యత్ = ఏది, సమానం = సమానమైనదిగా, అనుభూయతే = అనుభవింపబడునో, తద్రూపా = అట్టి రూపముగల, పదాసత్తిః = పదముల సామీప్యము (అట్టి పదములు దగ్గర దగ్గరగా ఉండుట) సానుప్రాసా = అను ప్రాసతో కూడినది. రసావహా హి=రసమును పోషించునది. కంఠతాల్వాది స్థానములలో ఉచ్చరింపబడు వర్ణముల (వ్యంజనముల)ను, సమాన రూపము కలవాటిని, దగ్గరదగ్గరగ కూర్చుటకు శ్రుత్యనుప్రాసమని పేరు. వైదర్భ గౌడరీతుల భేదమును స్పష్టీకరించుటకై ఇచట ఈ అలంకారము చెప్పబడినది. కావుననే – ***"కాశ్చిన్మార్గ విభాగార్థముక్తాః ప్రాగవ్యవలక్ష్మియాః"*** (II-3) అని చెప్పనున్నాడు.

మూ. ఏష రాజా యదా లక్ష్మీం ప్రాప్తవాన్ బ్రాహ్మణ ప్రియః
తదా ప్రభృతి ధర్మస్య లోకేస్మిన్నుత్సవోఽభవత్. 53

వ్యా. బ్రాహ్మణ ప్రియః = బ్రాహ్మణ ప్రియుడైన, ఏషః = ఈ, రాజా = రాజు, యదా = ఎప్పుడు, లక్ష్మీం = లక్ష్మిని, ప్రాప్తవాన్ = పొందినాడో, తదా ప్రభృతి = అది మొదలు, అస్మిన్ లోకే = ఈ లోకమునందు, ఉత్సవః = ఉత్సవము, అభవత్ = ఆయెను, 'ఏషరాజా' అనుదానిలో షకార రేఫలు మూర్ధన్యములు, "రాజా యదా" అనుదానిలో జకారయకారములు తాలవ్యములు. 'యదా లక్ష్మీం' అనుదానిలో దకార లకారములు దంత్యములు. 'లక్ష్మీం ప్రాప్త' అనునపుడు మకార పకారములు ఓష్ఠ్యములు. ఈ విధముగ తుల్యస్థానములగు వర్ణముల విన్యాస ముండుటచే ఇచ్చట శ్రుత్యనుప్రాసమున్నది.

మూ. ఇతీదం నాదృతం గౌడైరనుప్రాసస్తు తత్ప్రియః
అనుప్రాసాదపి ప్రాయో వైదర్భైరిదమిష్యతే. 54

వ్యా. ఇతి = ఈ విధముగ, ఇదం = ఈ శ్రుత్యనుప్రాసము, గౌడైః = గౌడులచే, నాదృతం = ఆదరింపబడలేదు. తు = కాని, అనుప్రాసః = సమాన వర్ణావృత్తిరూపమగు అనుప్రాసము, తత్ప్రియః = వారికి ఇష్టమైనది. ప్రాయః = సాధారణముగా, వైదర్భైః = వైదర్భులచే, ఇదం = శ్రుత్యనుప్రాసరూప మగు వస్తువు, అనుప్రాసాదపి = అనుప్రాసకంటె కూడ అధికముగ, ఇష్యతే = అంగీకరింపబడును.

మూ. వర్ణావృత్తిరనుప్రాసః పాదేషు చ పదేషు చ
పూర్వానుభవసంస్కారబోధినీ యద్య దూరతా. 55

వ్యా. పూర్వానుభవ సంస్కారబోధినీ = పూర్వము ఉచ్చరింపబడిన వర్ణము యొక్క అనుభవమువలన (జ్ఞానము వలన) కలిగిన సంస్కారమును ఉద్బుద్ధ మగునట్లు చేయు, అదూరతా = సామీప్యము, (ఆస్తి) యది = ఉన్నచో, పాదేషు చ = శ్లోకపాదములయందును, పదేషు చ = పదములందును, వర్ణావృత్తిః =

వర్ణముల ఆవృత్తి, ఈ ఆవృత్తి చేసిన వర్ణము ఒకటి కాని, రెండుకాని, అంతకంటె అధికము కాని కావచ్చును. అనుప్రాసః = అనుప్రాసము. ఒకటి లేక రెండు లేక అంతకంటె అధికసంఖ్యాకములగు వర్ణములను దగ్గరదగ్గరగా ఆవృత్తి చేసినచో అది అనుప్రాసము. అచ్చులను ఆవృత్తి చేసినను అందము లేదుగాన వర్ణములనగా నిచట వ్యంజనములని యర్థము. ఒక వర్ణమును విన్న పిమ్మట దాని సంస్కారము ఇంకను మనస్సులో ఉండగనే ఆ వర్ణమును మరల ప్రయోగించినచో అందముండును కాని చాల దూరదూరముగ ఆవృత్తి చేసినచో మొదటి వర్ణమును విన్న సంస్కారము మనస్సులోనుండి తొలగిపోవును గాన ఆ వర్ణమే మరల ఆ వృత్తిచేయబడినది అను ప్రతీతి ఉండదు. అందుచే దగ్గర దగ్గరగ ఆవృత్తి చేసిననే అనుప్రాసము.

మూ. చన్ద్రే శరన్నిశోత్తంసే కున్దస్తబకవిభ్రమే
ఇన్ద్రనీలనిభం లక్ష్మ సన్దధాత్యలినః శ్రియమ్. 56

వ్యా. కున్దస్తబకవిభ్రమే = కుందపుష్పముల గుత్తి వంటి సౌందర్యముగల, శరన్నిశోత్తంసే = శారదరాత్రియొక్క శిరోభూషణమైన, చన్ద్రే = చంద్రునియందు, ఇన్ద్రనీలనిభం = ఇంద్రనీలమాణిక్యముతో సమానమైన, లక్ష్మ = కలంకము, అలినః = తుమ్మెదయొక్క, శ్రియం = శోభను, సన్దధాతి = కూర్చుచున్నది. ఇచట నాలుగు పాదములందును ఉన్న 'చన్ద్ర' 'కున్ద' 'ఇన్ద్ర' 'సన్ద' అను పదములలో నకారదకారముల ఆవృత్తి యున్నది గాన ఇది పాదగతానుప్రాసమునకు ఉదాహరణము. ఇది రసానుగుణము గాన గ్రాహ్యము.

అవ. పదగతాను ప్రాసమునకు ఉదాహరణము చూపుచున్నాడు

మూ. చారు చాన్ద్రమసం భీరు బిమ్బం పశ్యేతదమ్బరే
మన్మనో మన్మథాక్రాన్తం నిర్దయం హన్తుముద్యతమ్. 57

వ్యా. హే భీరు = ఓ భయస్వభావము కలదానా! మన్మథా క్రాన్తం = మన్మథు నిచే ఆక్రమింపబడిన, మన్మనః = నా మనస్సును, నిర్దయం = నిర్దయముగా, హన్తుం = కొట్టుటకు, ఉద్యతం = ఉద్యమించిన, చారు = సుందరమైన, ఏతత్ =

ఈ, చాన్ద్రమసం బిమ్బం = చంద్రబింబమును, ఆమ్బరే = ఆకాశమునందు, పశ్య = చూడుము, ఇచట ప్రథమపాదములో 'చారు చాన్ద్ర' అనునపుడు 'చా' కును, 'చారు' 'భీరు' అను పదములలో 'రు'కును, రెండవ పాదములో 'మ్బ'కును, తృతీయ పాదమున 'మన్మ'లకును ఆవృత్తి యుండుటచే పదగతమగు అనుప్రాసము. ఇది కూడ రసానుగుణము గాన గ్రాహ్యము.

అవ. వర్ణావృత్తి దూరముగా ఉండకూడదు అని చెప్పియున్నాడు. దానికి ప్రత్యుదాహరణమును చూపుచున్నాడు.

మూ. ఇత్యనుప్రాసమిచ్ఛన్తి నాతిదూరాన్తరశ్రుతిమ్
నతు రామాముఖామ్భోజ సదృశశ్చన్ద్రమా ఇతి. 58

వ్యా. ఇతి = పై రెండు శ్లోకములలో చూపిన విధముగ, నాతి దూరాన్తర శ్రుతిమ్ = ఎక్కువ దూరము కాని వ్యవధానముతో కూడిన శ్రవణము కల, అనుప్రాసం = అనుప్రాసమును, ఇచ్ఛన్తి = అంగీకరింతురు, తు = కాని, చన్ద్రమాః = చంద్రుడు, రామాముఖామ్భోజ సదృశః = లలనా ముఖ పద్మముతో సమాన మైనవాడు, ఇతి = ఈవిధమైనదానిని, న = అంగీకరింపరు. ఇచట ఉత్తరార్ధమున "రామాముఖామ్భోజసదృశశ్చన్ద్రమా" అనునపుడు 'మా' అనుదానిని రెండు పర్యాయములు ఆవృత్తి చేసినను ఆరెండింటికిని చాల వ్యవధానముండుటచే ఇది అనుప్రాసము కాదని అభిప్రాయము. పై రెండు శ్లోకములలోనున్న అనుప్రాసము సుకుమారముగ ఉన్నదిగాన ఇట్టిది వైదుర్భులకు కూడ అంగీకార్యమే అని దండి అభిప్రాయము. గౌడులకు మాత్రము సుకుమారమైనను, పరుషమైనను, అనుప్రాస మనునది ఉన్న చాలును. ఈ విషయము ఈక్రింది రెండు శ్లోకములలో స్పష్టము కాగలదు.

మూ. స్మరః ఖరః ఖలః కాన్తః కాయః కోపశ్చ నః కృశః
చ్యుతో మానోఽధికో రాగో మోహో జాతోఽసవోగతాః. 59

ఇత్యాది బన్ధపారుష్యం శైథిల్యం చ నియచ్ఛతి
అతో నైనమను ప్రాసం దాక్షిణాత్యాః ప్రయుఞ్జతే. 60

వ్యా. స్మరః = మన్మథుడు, ఖరః = తీవ్రముగా నున్నాడు, కాన్తః = ప్రియుడు. ఖలః = నిష్ఠురస్వభావుడు. నః = మాయొక్క, కాయః = శరీరము, కోపశ్చ = కోపముకూడ, కృశః = కృశించినది. మానః = మానము, చ్యుతః = జారి పోయినది, రాగః = అనురాగము, అధికః = అధికమైనది, మోహః = మోహము, జాతః = కలిగినది. అసవః = ప్రాణములు, గతాః = వెడలిపోయినవి (వెడలి పోవుచున్నవి). ఇత్యాది = ఈవిధముగనుండు అనుప్రాసము, బన్ధపారుష్యం = బంధమునందు పారుష్యమును, శైథిల్యంచ = (బంధమునందు) శైథిల్యమును, నియచ్ఛతి = ఇచ్చును. అతః = ఈ కారణమువలన, దాక్షిణాత్యాః = దాక్షిణాత్యులు అనగా వైదర్భమార్గమును అనుసరించువారు, ఏవం = ఈవిధముగ, అనుప్రాసం = అనుప్రాసమును, న ప్రయుఞ్జతే = ప్రయోగింపరు, ఇచట పూర్వార్ధమున దగ్గరదగ్గరగ విసర్గలను ప్రయోగించుటచే **"అనుస్వార విసర్గౌ తు పారుష్యాయ నిరన్తరౌ"** అని చెప్పినరీతిగ పారుష్యమున్నది. ఉత్తరార్ధమున సంయుక్తాక్షరములు లేకపోవుటచేతను, ఓకారముగ మారిన విసర్గల ప్రయోగము చేతను బంధము శిథిలముగ నున్నది. పూర్వార్ధమున 'ర' 'ఖ' 'క'ల ఆవృత్తి యున్నది. ఈ విధముగ ఇచట నున్న అనుప్రాస పారుష్యశైథిల్యాదిదోష దుష్ట మగుటచే ఇట్టి దానిని వైదర్భులు గ్రహింపరు కాని గౌడులు ఇట్టి పారుష్య శైథిల్యము లున్నను, అనుప్రాస మున్నది కదా అను హేతువుచే దీనిని గ్రహింతురు.

మూ. ఆవృత్తిం వర్ణసఙ్ఘాతగోచరాం కవయో విదుః
తత్తునైకాన్త మధురమతః పశ్చాద్విధాస్యతే. 61

వ్యా. కవయః = కవులు, వర్ణసంఘాతగోచరాం = వర్ణముల సముదాయమునకు సంబంధించిన, ఆవృత్తిం = (యమక మనుపేరుగల) ఆవృత్తిని, విదుః = తెలిసికొందురు (చెప్పుదురు). కొన్ని వర్ణములను మాత్రము ఆవృత్తి చేసినచో అనుప్రాసము. అట్లుకాక ఒక పదమును లేదా స్వరవ్యంజన సముదాయమును, యథాతథముగ ఆవృత్తి చేసినచో అది యమకమని చెప్పుదురు. తు = కాని, తత్ = ఆయమకము, ఏకాన్తమధురం = తప్పనిసరిగ మాధుర్య గుణముతో కూడినది. న = కాదు, అతః = అందువలన, పశ్చాత్ = శబ్దాలంకార ప్రస్తావ

మున విధాస్యతే = నిరూపింపబడును. అనుప్రాస మాధుర్యగుణమునకు సంబంధించినది గాన, మాధుర్యగుణమును నిరూపించు ప్రసంగమున నిరూపింపబడినది కాని యమకము సర్వదా మాధుర్యగుణముతో సంబంధించి యుండునని చెప్పుటకు వీలులేదు. అందుచే దానిని గూర్చి ఈ ప్రకరణమునందుకాక శబ్దాలంకార ప్రస్తావమున చెప్పబడును.

అవ. **"మధురం రసవద్వాచి వస్తున్యపి రసస్థితిః"** అనుకారికలో (51) రసము శబ్దమునందును, అర్థమునందును కూడ ఉండునని చెప్పియున్నాడు. రసస్థితికి అనుకూలమగు శబ్దరచనను విశదీకరించి ఇపుడు అట్టి అర్థమును విశదీకరించుచున్నాడు.

మూ. కామం సర్వోఽప్యలఙ్కారో రసమర్థే నిషిఞ్చతు
తథాప్యగ్రామ్యతైవైనం భారం వహతి భూయసా. 62

వ్యా. సర్వః అపి = సమస్తమైన, అలఙ్కారః = అలంకారము, అర్థే = అర్థమునందు, రసం = రసమును, నిషిఞ్చతుకామం = చల్లినచో చల్లుగాక, (అర్థము రసవంతమగునట్లు చేసిన చేయుగాక) తథాపి = అట్లైనను, అగ్రామ్యతైవ = అగ్రామ్యత్వమే, భూయసా = చాలవరకు, ఏనం = ఈ, భారం = రసపుష్టిని కలిగించెడు భారమును, వహతి = మోయుచున్నది. అలంకారము లున్నంత మాత్రమున రసపుష్టి కలగదు. వర్ణనము గ్రామ్యతా దోషదుష్టము కారాదు. అపుడే అలంకారములచే రసమునకు పుష్టికలుగును అని అర్థము.

అవ. గ్రామ్యతకు ఉదాహరణము చూపుచున్నాడు.

మూ. కన్యే కామయమానం మాం న త్వం కామయసే కథమ్
ఇతి గ్రామ్యోఽయమర్థాత్మా వైరస్యాయ ప్రకల్పతే. 63

వ్యా. కన్యే = ఓపిల్లా! కామయమానం = నిన్ను కామించుచున్న, మాం = నన్ను, త్వం = నీవు, కథం = (ఎట్లు), ఎందుచేత, న కామయసే = కామించుట లేదు? ఇతి = ఈవిధముగా, గ్రామ్యః = గ్రామ్యమైన, అయం ఈ, అర్థాత్మా = అర్థస్వరూపము, వైరస్యాయ = విరసత్వమునకు, కల్పతే = సమర్థమగును,

అనగా విరసత్వమును కలిగించును.

అవ. అగ్రామ్యతకు ఉదాహరణము చూపుచున్నాడు.

మూ. కామం కన్దర్పచణ్డాలో మయి వామాక్షి నిర్దయః
త్వయి నిర్మత్సరో దిష్ట్యేత్య గ్రామ్యోఽర్థో రసావహః. 64

వ్యా. హే వామాక్షి! ఓ సుందరనయనా! మయి = నావిషయమున, నిర్దయః = దయావిహీనుడైన, కన్దర్పచణ్డాలః = ఈ క్రూరుడైన మన్మథుడు, కామం = యథార్థముగా, దిష్ట్యా = దైవ వశముచేత, త్వయి = నీ విషయమున, నిర్మత్సరః = కోపరహితుడుగా ఉన్నాడు. ఇతి = ఈవిధముగా, అగ్రామ్యః = గ్రామ్యముకాని, అర్థః = అర్థము, రసావహః = రసానుభూతిని కలిగించును. పూర్వశ్లోకములో శృంగారరసానుగుణమైన ककారమకారావృత్తి ఉన్నను అర్థము చాల మోటుగా ఉండుటచే రసభంగము కలుగుచున్నది గాన అందు మాధుర్యము లేదు. ఈ శ్లోకమున అగ్రామ్యమగు అర్థముయొక్క కూర్పు విప్రలంభ పోషకముగ నున్నది గాన ఇది మాధుర్యయుక్తము.

అవ. గ్రామ్యత్వము అర్థమునందు వలె శబ్దమునందు కూడ ఉన్నదని చెప్పుచున్నాడు.

మూ. శబ్దేఽపి గ్రామ్యతాస్త్యేవ సా సభ్యేతరకీర్తనాత్
యథా యకారాదిపదం రత్యుత్సవనిరూపణే. 65

పదసన్ధానవృత్త్యా వా వాక్యార్థత్వేన వా పునః
దుష్ప్రతీతికరం గ్రామ్యం యథా యాభవతః ప్రియా. 66

వ్యా. సభ్యేతరకీర్తనాత్ = అసభ్యమగు పదమును ఉచ్చరించుట వలన, శబ్దేఽపి = శబ్దమునందు కూడ, సా గ్రామ్యతా = ఆ గ్రామ్యతాదోషము, అస్త్యేవ = ఉన్నది. యథా = ఎట్లనగా – రత్యుత్సవనిరూపణే = రత్యుత్సవమును చెప్పునపుడు, యకారాదిపదం = యకారముతో ప్రారంభమగు 'యాభ' అనుపదము. సురతనిధువనాది పదములు రత్యర్థకములే యైనను అవి గ్రామ్యములు కావు. అదే అర్థమున 'యభమైథునే' అను ధాతువునుండి నిష్పన్నమగు 'యాభ'

పదమును ప్రయోగించినచో ఆ శబ్దము అశ్లీలతా దోషదుష్టము. ఈ అశ్లీలత్వము అర్థమునందుకాక శబ్దమునందే ఉన్నది గాన శబ్దగత దోషము. పదసన్ధాన వృత్త్యావా = పదముల సంధిని బట్టిగాని, వాక్యార్థత్వేన వా పునః = వాక్యార్థముగ కాని, దుష్ప్రతీతికరం = దుష్టార్థ ప్రతీతిని కలిగించునదై, గ్రామ్యం = గ్రామ్యతా దోషదుష్టము. యభధాతునిష్పన్న మగు 'యాభ' పదమును ఆ అర్థమును బోధించుటకై ప్రయోగించినచో గ్రామ్యతా దోషము. అట్లుకాక ఒక పదము చివర 'యా' ఉండి, దాని తరువాత వచ్చు రెండవ పదము ప్రారంభమున 'భ' ఉండి ఆ రెండు పదములను కలిపి చదివినపుడు 'యాభ' శ్రుతి ఏర్పడినను అది కూడ గ్రామ్యతాదోషమే. యథా = ఎట్లనగా – 'యా భవతః ప్రియా'. ఇచట "భవతః నీయొక్క, యా = ఏ, ప్రియా = ప్రియురాలు ఉన్నదో" అను అర్థమున 'యా భవతః ప్రియా' అని ప్రయోగించినపుడు కలిపి చదువులలో 'యాభవతః' అనుపదము శ్రూయమాణమై అసభ్యార్థస్మృతిని కలిగించుచున్నది. అందుచే ఇది కూడ శబ్దగత గ్రామ్యతాదోషము.

మూ. ఖరం ప్రహృత్య విశ్రాన్తః పురుషో వీర్య వానితి
ఏవమాది న శంసన్తి మార్గయోరుభయోరపి. 67

వ్యా. వీర్యవాన్ = పరాక్రమవంతుడైన (గాఢమైన శుక్రముగల), పురుషః = శ్రీరాముడు (పురుషుడు), ఖరం = ఖరుడనెడు రాక్షసుని (తీవ్రముగా) ప్రహృత్య = సంహరించి (యో... ప్రహరణముచేసి) విశ్రాన్తః = విశ్రమించి నాడు (బాగుగ అలసి విశ్రాంతి తీసుకొనుచున్నాడు). ఇతి = ఇట్లు, ఏవమాది = ఈ మొదలగు దానిని, ఉభయోరపి మార్గయోః = రెండు మార్గములందును, న శంసన్తి = మెచ్చరు, ఇచట ప్రకరణానుసారముగ రాముడు ఖరుని సంహరించుట అను అర్థమున్నను, ఆప్రాకరణిక మగు అసభ్యార్థము కూడ గమ్యమగుటచే ఇట్టి గ్రామ్యమగు మాధుర్యరహితరచనను రెండు రీతుల వారును అంగీకరింపరు.

మూ. భగినీభగవత్యాది సర్వత్రై వానుమన్యతే
విభక్తమితి మాధుర్యముచ్యతే సుకుమారతా. 68

వ్యా. భగినీభగవత్యాది = 'భగినీ' 'భగవతీ' మొదలగు పదములు, సర్వత్రైవ = వైదర్భీగౌడీ మార్గములు రెండింటియందును, అనుమన్యతే = అంగీకరింప బడును. 'భగినీ' 'భగవతీ' అనుశబ్దముల యౌగి కార్థమును పరిశీలించినచో 'భగము కలది' అని అర్థము. కాని ఇట్టి పదములు శిష్టగ్రాహ్యములే. ఇతి = ఈ విధముగ, మాధుర్యం = మాధుర్యము, విభక్తం = విభజించి నిరూపింప బడినది. సుకుమారతా = సుకుమారత యను గుణము, ఉచ్యతే = చెప్పబడును.

మూ. అనిష్ఠురాక్షరప్రాయం సుకుమారమిహేష్యతే
బన్ధశైథిల్యదోషోఽపి దర్శితః సర్వకోమలే. 69

వ్యా. ఇహ = ఈకావ్య మార్గమునందు, అనిష్ఠురాక్షరప్రాయం = శ్రుతి కటుత్వరూపదోషము లేని అక్షరములు అధికముగా కలది. సుకుమారం = సుకుమారమని, ఇష్యతే = అంగీకరింపబడుచున్నది. అనిష్ఠురాక్షరములు అధికముగ ఉండవలెను అని చెప్పుటచే మధ్య మధ్య నిష్ఠురాక్షరములు కూడ ఉండవలెనని చెప్పినట్లైనది. అట్లు కానిచో శైథిల్యదోషము వచ్చునని చెప్పు చున్నాడు. సర్వకోమలే = పూర్తిగా కోమలవర్ణములతో కూర్చిన వాక్యమునందు, బన్ధ శైథిల్యదోషోఽపి = బంధ శైథిల్యదోషము, దర్శితః = ***"శిథిలం మాలతీ మాలా లోలాలికలితా యథా"*** (43) అను శ్లోకమున చూపబడినది.

అవ. సుకుమారతా గుణమునకు ఉదాహరణము చూపుచున్నాడు :

మూ. మణ్డలీకృత్య బర్హాణి కణ్ఠైర్మధురగీతిభిః
కలాపినః ప్రనృత్యన్తి కాలే జీమూతమాలిని. 70

వ్యా. జీమూతమాలిని = మేఘపంక్తులలో కూడిన, కాలే = వర్షకాలము నందు, కలాపినః = నెమళ్లు, బర్హాణి = పింఛములను, మణ్డలీకృత్య = మండలముగా చేసి, మధురగీతిభిః = మధురమైన గానముతో కూడిన, కణ్ఠైః = కంఠములతో, ప్రనృత్యన్తి = అధికముగా నాట్యము చేయుచున్నవి.

అవ. ఈ సుకుమారతాగుణముయొక్క వైశిష్ట్యమును వివరించుచున్నాడు.

మూ. ఇత్యసౌర్జిత ఏవార్థో నాలఙ్కారోఽపి తాదృశః
సుకుమారతయైవైతదారోహతి సతాం మనః. 71

వ్యా. ఇతి = ఈవిధముగా, ఈ పద్యములో, అర్థః = అర్థము, అనూర్జిత ఏవ = అంత ఉదాత్తమైనదికాదు. తాదృశః = అట్టి, అనగా ఊర్జితమైన, అలఙ్కారోఽపి = అలంకారముకూడ, న = లేదు. అట్లైనను, ఏతత్ = ఈ వాక్యము, సుకుమారత యైవ = సౌకుమార్య మను గుణము ఉండుటచేతనే, సతాం = సత్పురుషుల, మనః = మనస్సును, ఆరోహతి = అధిష్ఠించును.

మూ. దీప్తమిత్యపరైర్భూమ్నా కృచ్ఛ్రోద్యమపి బధ్యతే
న్యక్షేణ క్షపితః పక్షః క్షత్రియాణాం క్షణాదితి. 72

వ్యా. అపరైః = గౌడమార్గానుసారులచే, దీప్తమితి = దీప్తి అనెడు నామాన్తరము గల ఔజ్జ్వల్యముతో కూడినదను కారణముచేత, కృచ్ఛ్రోద్యమపి = పరుషవర్ణ ప్రచుర మగుటచే ఉచ్చరించుటకు కష్టమైన పదముకూడ, భూమ్నా = అధికముగా, బధ్యతే = కూర్చబడును. న్యక్షేణ = అంధుడైన ధృతరాష్ట్రునిచే, క్షణాత్ = క్షణకాలములో, క్షత్రియాణాం పక్షః = క్షత్రియుల పక్షము, క్షపితః = నశింప చేయబడినది. ధృతరాష్ట్రుడు తన తెలివి తక్కువ తనముచే క్షత్రియవంశము నంతను నశింపచేసినాడని చెప్పుటచే ఇచట కరుణరసము. కాని ఇచట ప్రయోగిం చిన పరుషవర్ణ పదములు శ్రుతి కటువులే కాక రసప్రతికూలముగా కూడ ఉన్నవి.

మూ. అర్థవ్యక్తి రనేయత్వ మర్థస్య హరిణోద్ధతా
భూః ఖురక్షుణ్ణనాగాసృగ్లోహితాదుదధేరితి. 73

వ్యా. అర్థస్య = అర్థముయొక్క, అనేయత్వం = అధ్యాహారాదులచే ఊహించ వలసిన ఆవశ్యకత లేకుండుట, అర్థవ్యక్తిః = అర్థవ్యక్తి. ఖురక్షుణ్ణ నాగాసృగ్ లోహితాత్ = డెక్కలచే నలగకొట్టబడిన నాగముల రక్తముచే ఎఱ్ఱనైన, ఉదధేః = సముద్రమునుండి, భూః = భూమి, హరిణా = విష్ణువుచేత, ఉద్ధృతా = ఎత్త బడినది, ఇతి = ఇట్లు అనేయత్వమునకు ఉదాహరణము. ఇచట చెప్పదలచిన అర్థమునంతను చెప్పుటకు సరిపడునన్ని పదములు ప్రయోగింపబడినవి. అందుచే ఇది అర్థవ్యక్తికి ఉదాహరణము. కాని 'ఖురక్షుణ్ణనాగాసృగ్ లోహితాత్' అని కాక 'లోహితాత్' అని మాత్రమే చెప్పియున్నచో, సముద్రము ఎఱ్ఱగా నుండుటకు

కారణమేదియో ఊహించుకొనవలసి యుండును. అపుడది నేయార్థమగుటచే, అచట అర్థవ్యక్తి ఉండదు. ఈ విషయమును 74వ శ్లోకమున చెప్పనున్నాడు.

మూ. మహీ మహావరాహేణ లోహితాదుద్ధృతోదధేః
ఇతీయత్యేవ నిర్దిష్టే నేయత్వముర్గసృజః. 74

వ్యా. మహీ = భూమి, మహావరాహేణ = మహావరాహముచే, లోహితాత్ = ఎఱ్ఱనైన, ఉదధేః = సముద్రమునుండి, ఉద్ధృతా = ఎత్తబడినది. ఇతి = ఇట్లు, ఇయత్యేవ = ఇంతమాత్రమే, నిర్దిష్టే = చెప్పబడిన దగుచుండగా, ఉరగాసృజః = ఉరగరక్తమునకు, నేయత్వం = నేయత్వము. అనగా ఉరగ రక్తముచే ఎఱ్ఱగా నున్నది అను విషయము చెప్పుకున్నను దానిని ఊహించుకొనవలసి యుండును.

మూ. నేదృశం బహుమన్యన్తే మార్గయోరుభయోరపి
న హి ప్రతీతిః సుభగా శబ్దన్యాయ విలఙ్ఘినీ. 75

వ్యా. ఈదృశం = ఇట్టి నేయార్థత్వమును, ఉభయోః మార్గయోరపి = గౌడ - వైదర్భ రీతులు రెండింటియందును, న బహుమన్యన్తే = అంగీకరింపరు. శబ్ద న్యాయవిలఙ్ఘినీ = "శబ్ద శక్తిచే బోధింపబడిన అర్థములకు మాత్రమే అన్వయ ముండును" అనెడు శాబ్ద న్యాయమునకు విరుద్ధమైన, ప్రతీతిః = పదములచే బోధింపబడని అర్థముల జ్ఞానము, న సుభగా హి = మంచిది కాదు కదా?

అవ. ఉదారత్వమును చెప్పుచున్నాడు

మూ. ఉత్కర్షవాన్ గుణః కశ్చిద్యస్మిన్నుక్తే ప్రతీయతే
తదుదారాహ్వయం తేన సనాథా కావ్యపద్ధతిః. 76

వ్యా. యస్మిన్ = ఏ వాక్యము, ఉక్తేసతి = చెప్పబడినదగుచుండగా, ఉత్కర్షవాన్ = ఉత్కర్షతో గూడిన, కశ్చిత్ = ఒకానొక, గుణః = గుణము (ధర్మము), ప్రతీయతే = గమ్యమగునో, తత్ = ఆకావ్యము, ఉదారాహ్వయం = ఉదారత్వమను గుణము కలది. కావ్యపద్ధతిః = కావ్యపద్ధతి, తేన = ఈ ఔదార్యమనెడు గుణముచే, సనాథా = ప్రయోజనవంతమగును. అనగా ఔదార్యగుణముచే కావ్యములందు చమత్కా రము లభించునని యర్థము.

మూ. అర్థినాం కృపణా దృష్టిస్త్వన్ముఖే పతితా సకృత్

తదవస్థా పునర్దేవ నాన్యస్య ముఖమీక్షతే. 77

ఇతి త్యాగస్య వాక్యేఽస్మిన్నుత్కర్షః సాధు లక్ష్యతే
అనేనైవ పథాన్యచ్చ సమాన న్యాయమూహ్యతామ్. 78

వ్యా. హేదేవ = ఓరాజా! అర్థినాం = యాచకుల యొక్క, కృపణా = దీనమైన, దృష్టిః = దృష్టి, సకృత్ = ఒక్కమారు, త్వన్ముఖే = నీ ముఖము నందు, పతితా = పడినచో, పునః = మరల, తదవస్థా = అట్టి దీనావస్థకలదై, అన్యస్య = ఇతరునియొక్క, ముఖం = ముఖమును, నేక్షతే = చూడదు, ఇతి = ఈవిధముగా, అస్మిన్ వాక్యే = ఈవాక్యమునందు, త్యాగస్య = త్యాగముయొక్క, ఉత్కర్షః = ఉత్కర్ష, సాధు = బాగుగా, లక్ష్యతే = చూడబడుచున్నది. అనేన పథైవ = ఈ మార్గముచేతనే, సమాననాయం = దీనితో సమానమైన న్యాయముగల, అన్యచ్చ = ఇతర విషయముకూడ, ఊహ్యతామ్ = ఊహింపబడుగాక.

మూ. శ్లాఘ్యైర్విశేషణైర్యుక్త ముదారం కైశ్చిదిష్యతే
యథా లీలాంబుజక్రీడా సరో హేమాఙ్గదాదయః 79

వ్యా. శ్లాఘ్యైః = శ్లాఘింపదగిన, విశేషణైః = విశేషణములతో, యుక్తం = కూడిన వాక్యము, ఉదారం = ఔదార్యగుణము కలది అని, కైశ్చిత్ = కొందరిచే, ఇష్యతే = అంగీకరింపబడును. యథా = ఎట్లనగా – లీలా... దాదయః = లీలాంబుజము, క్రీడాసరస్సు, హేమాఙ్గదము మొదలగునవి. 'లీలాంబుజ' పదములోని 'లీలా' అను విశేషణముచే ఆ పద్మమునకుగల వర్ణ ఆకార సౌరభాదుల అతిశయము తెలియుచున్నది. "క్రీడా సరస్సు" పదమునందలి "క్రీడా" విశేషణముచే ఆ సరస్సులో కమలములు, సారసాది పక్షులు, విహార నౌకాదులు ఉన్నట్లు తెలియుచున్నది. 'హేమాంగద' పదమునందలి 'హేమ' విశేషణముచే ఆ అంగదమును రత్నాదులతో కూర్చినట్లు గమ్యమగుచున్నది. కావున ఇది ఔదార్యగుణమునకు ఉదాహరణమని వీరి ఆశయము.

అవ. ఓజోగుణమును నిరూపించుచున్నాడు.

మూ. ఓజః సమాసభూయస్త్వ మేతద్గద్యస్య జీవితమ్

పద్యేఽప్యదాక్షిణాత్యానామిదమేకం పరాయణమ్. 80

వ్యా. సమాసభూయస్త్వం = అధికముగ సమాసముల ప్రయోగము, ఓజః = ఓజస్సు. ఏతత్ = ఇది, గద్యస్య = గద్యకావ్యమునకు, జీవితమ్ = ప్రాణము వంటిది. ఆదాక్షిణాత్యానాం = గౌడులకు, పద్యేఽపి = పద్యమునందు కూడ, ఇదం = ఇది, ఏకం = ప్రధానమైన, పరాయణం = ఆలంబనము.

మూ. తద్గురూణాం లఘూనాం చ బాహుల్యాల్పత్వమిశ్రణైః
ఉచ్చావచ ప్రకారం తద్దృశ్యమాఖ్యాయికాదిషు. 81

వ్యా. తత్ = ఆ ఓజస్సు, గురూణాం = గురువులయొక్కయు, లఘూ నాం చ = లఘువులయొక్కయు, బాహుల్యాల్పత్వ మిశ్రణైః = బాహుల్యము చేతను, అల్పత్వము చేతను, మిశ్రణము చేతను, ఉచ్చావచ ప్రకారం = అనేక విధములైన రీతులు గలది. అసగా కొన్నిచోట్ల దీర్ఘాక్షరములు అధికముగ ఉండును, లఘువులు అల్పముగ నుండును. కొన్నిచోట్ల లఘువులు అధికముగ నుండి దీర్ఘాక్షరములు తక్కువగ ఉండును. కొన్నిచోట్ల ఆ రెండు విధముల వర్ణములు తుల్యముగా నుండును. తత్ = ఆ ఓజస్సు, ఆఖ్యాయికాదిషు = ఆఖ్యాయికలు మొదలగు వాటిలో, దృశ్యం = చూడదగినది.

మూ. అస్తమస్తక పర్యస్త సమస్తార్కాంశు సంస్తరా
పీనస్తనస్థితాతామ్రకమ్రవస్త్రేవ వారుణీ. 82

ఇతి పద్యేపి పౌరస్త్యా బధ్నన్త్యోజస్వినీర్గిరః
అన్యే త్వనాకులం హృద్యమిచ్ఛన్త్యోజోగిరాం యథా. 83

పయోధరతటోత్సఙ్గలగ్న సన్ధ్యాతపాంశుకా
కస్య కామాతురం చేతో వారుణీ న కరిష్యతి. 84

వ్యా. "అస్త ..... సంస్తరా" – అస్త = అస్తాద్రియొక్క, మస్తక = శిఖరమునందు, పర్యస్త = ప్రసరింపచేయబడిన, సమస్తార్కాంశు సంస్తరా = సమస్తమైన సూర్య కిరణసముదాయముగల, వారుణీ = పశ్చిమదిక్కు, "పీన ఇవ" – పీన = బలిసి యున్న, స్తన = స్తనముమీద, స్థిత = ఉన్న, ఆతామ్ర

= ఎర్రనైన, కమ్ర = అందమైన, వస్త్రేవ = వస్త్రము కలది (వస్త్రముగల స్త్రీవలె) ఉన్నది, ఇతి పద్యేఽపి = ఈవిధమగు పద్యమునందు గూడ, పౌరస్త్యాః = పూర్వదేశీయులు (గౌడులు) ఓజస్వినీః = ఓజోగుణముతో గూడిన, గిరః = వాక్కులను, బధ్నన్తి = కూర్చుదురు. అనగా గౌడరీతిని అంగీకరించువారు అనుప్రాస ప్రియులగుటచే ఇట్టి రచనను ఓజోగుణవంతమని అంగీకరింతురు. అన్యేతు = వైదర్భరీతిని అంగీకరించు వారైతే, అనాకులం = ఆకులము కానిది, అనగా సుఖముగ ఉచ్చరింప దగినది, హృద్యం = మనోహరమైనది అగు రచనా విధానమును, గిరాం = వాక్కులయొక్క, ఓజః = ఓజస్సునుగా, ఇచ్ఛన్తి = అంగీకరింతురు, యథా = ఎట్లనగా - "పయోధర... అంశుకా" - పయోధరతటోత్సఙ్గ = పయోధరముయొక్క పై భాగమునందు (స్తనము, మేఘము అని రెండర్థములు), లగ్న = లగ్నమైన, సన్ధ్యాతపాంశుకా = సంధ్యాకాలము నందలి ఎండయే వస్త్రముగా గల, వారుణీ = పశ్చిమదిశానాయిక, కస్య = ఎవని, చేతః = చిత్తమును, కామాతురం = కామముచే వ్యాకులమైన దానినిగా, న కరిష్యతి = చేయదు? దీర్ఘసమాసప్రయోగ రూప మగు ఓజోగుణము వైదర్భగౌడరీతుల నంగీకరించు ఉభయులకును అంగీ కార్యమే. కాని గౌడులకు అనుప్రాసబహుళ మగు ఓజస్సు అనిన ఇష్టము. వైదర్భులకు ఉచ్చారణసులభము, అక్షిష్టపదము అగు రచన అనిన ఇష్టము.

అవ. కాంతి గుణమును నిరూపించుచున్నాడు.

మూ. కాన్తం సర్వజగత్కాన్తం లౌకికార్థనతి క్రమాత్.
తచ్చ వార్తాభిధానేషు వర్ణనాస్వపి దృశ్యతే. 85

వ్యా. లౌకికార్థనతిక్రమాత్ = ఆబాలగోపాలము అందరికిని తెలిసిన విషయ మును అతిక్రమింపకుండుటవలన, అనగా అట్టి విషయమును కూర్చుట వలన, సర్వ జగత్కాన్తం = అందరికిని మనోహరముగ నుండునది, కాన్తం = కాంతి గుణము కలది. తచ్చ = ఆ కాంతత్వము, వార్తాభిధానేషు = విషయములను చెప్పుట యందును, వర్ణనాస్వపి = వర్ణన యందును, దృశ్యతే = కనబడుచున్నది.

మూ. గృహాణి నామ తాన్యేవ తపోరాశిర్భవాదృశః

సమ్భావయతి యాన్యేవం పావనైః పాదపాంసుభిః. 86

వ్యా. గృహాణి నామ = గృహములనగా, తపోరాశిః = తపోరాశియైన, భవాదృశః = నీవంటివాడు, యాని = వేటిని, పావనైః = పవిత్రములైన, పాద పాంసుభిః = పాదపరాగములచే, ఏవం = ఈవిధముగా, సంభావయతి = ఆదరపాత్రమైన వాటిగా చేయునో, తాన్యేవ = అవిమాత్రమే. (అవి మాత్రమే నిజమైన గృహములు).

మూ. అనయోరనవద్యాఙ్గి స్తనయోర్జృమ్భమాణయోః
అవకాశో న పర్యాప్తస్తవ బాహులతాన్తరే. 87

వ్యా. హే అనవద్యాఙ్గి = ఓనిర్దుష్టమైన శరీరముకల దానా!, జృమ్భమాణయోః = విజృంభించుచున్న, అనయోః = ఈ, స్తనయోః = స్తనములకు, తవ = నీయొక్క, బాహులతాన్తరే = లతాసదృశములగు బాహువుల మధ్య, అవకాశః = అవకాశము, న పర్యాప్తః = చాలదు.

మూ. ఇతి సమ్భావ్యమేవైతద్విశేషాఖ్యాన సంస్కృతమ్.
కాన్తం భవతి సర్వస్య లోకయాత్రానువర్తినః. 88

వ్యా. ఇతి = పై రెండు శ్లోకములలో చెప్పిన రీతిగ, సమ్భావ్యమేవ = లోక ప్రసిద్ధ మగుటచే సంభావ్యమే అగు, విశేషాఖ్యాన సంస్కృతం = విశిష్ట వర్ణనముచే సంస్కృతమైన, ఏతత్ = ఈ వాక్యము, లోకయాత్రానువర్తినః = లోకయాత్రను అనుసరించు, సర్వస్య = ప్రతి ఒక్కనికిని, కాన్తం = మనోహర మైనదై, భవతి = అగును. ఈవిధముగా వర్ణన లోకప్రసిద్ధమేగాన కవిప్రతిభామాత్ర కల్పితము కాదు. అందుచే దీనిని అందరును ఆస్వాదించగలరు.

మూ. లోకాతీత ఇవాత్యర్థ మధ్యారోప్య వివక్షితః
యోఽర్థస్తేనాతితుష్యన్తి విదగ్ధా నేతరే జనాః. 89

వ్యా. అత్యర్థం = లోకాతీతమగు అర్థమును, అధ్యారోప్య = ఆరోపించి, వివక్షితః = చెప్పనుద్దిష్టమైనదియు, లోకాతీత ఇవ = లోకమునకు సంబంధించ

నిది వలె ఉండు, యః అర్థః = ఏ అర్థముకలదో, తేన = దానిచే, విదగ్ధాః = ఇట్టి రీతియందు నేర్పుగల గౌడపండితులు మాత్రమే, (లేదా పండితులు మాత్రమే) అతితుష్యన్తి = చాలా ఆనందింతురు. ఇతరే జనాః = వైదర్భులు (లేదా సామాన్య జనులు), న = ఆనందింపజాలరు.

అవ. ఇట్టి లోకాతీతవర్ణనకు ఉదాహరణము చూపుచున్నాడు.

మూ. దేవధిష్ణ్య మివారాధ్యమద్య ప్రభృతి నో గృహమ్
యుష్మత్పాదరజఃపాత ధౌతనిఃశేష కిల్బిషమ్. 90

అల్పం నిర్మితమాకాశమనాలోచ్యైవ వేధసా
ఇదమేవం విధం భావి భవత్యాః స్తనజృమ్భణమ్. 91

వ్యా. యుష్మత్ ... కిల్బిషం = మీ పాదరజస్సు పడుటచే కడిగి వేయబడిన సమస్తపాపపుంజము కల, నః = మాయొక్క, గృహం = గృహము, అద్యప్రభృతి = నేడు మొదలు, దేవధిష్ణ్యమివ = దేవతాగృహము వలె, ఆరాధ్యం = పూజింప దగినది.

భవత్యాః = నీయొక్క, ఇదం = ఈ, స్తనజృమ్భణం = స్తనముల విజృంభణము, ఏవం విధం = ఈవిధముగా, భావి = కానున్నది అని, అనాలోచ్యైవ = ఆలోచించ కుండగనే, వేధసా = బ్రహ్మచే, అల్పం = స్వల్పమైన, ఆకాశం = ఆకాశము, నిర్మితం = నిర్మింపబడినది.

మూ. ఇదమత్యుక్తిరిత్యుక్త మేతద్గౌడోపలాలితమ్
ప్రస్థానం ప్రాక్ ప్రణీతం తు సారమన్యస్య వర్త్మనః. 92

వ్యా. ఇదం = ఇది, అత్యుక్తిః ఇతి = అత్యుక్తి అని, ఉక్తం = చెప్పబడినది. ఏతత్ = ఇది, గౌడోపలాలితం = గౌడులచే అంగీకరింపబడిన, ప్రస్థానం = మార్గము. ప్రాక్ ప్రణీతం తు = వెనుక (86, 87 శ్లోకములలో) కూర్చబడినదైతే, అన్యస్య వర్త్మనః = రెండవమార్గము (వైదర్భమార్గము) యొక్క, సారం = సారము. 86, 87 శ్లోకములలో చెప్పిన విషయమునే 90, 91 శ్లోకములలో చెప్పినను ఇది అతిశయోక్తి భరిత మగుటచేతను, దీర్ఘ సమాస గ్రథిత మగుటచేతను

సర్వజనప్రియము కాజాలదు, గౌడులు మాత్రమే దీనిని మెచ్చుదురు.

అవ. సమాధిగుణమును నిరూపించుచున్నాడు.

మూ. అన్యధర్మ స్తతోఽన్యత్ర లోకసీమానురోధినా
సమ్యగాధీయతే యత్ర స సమాధిః స్మృతో యథా. 93

వ్యా. లోకసీమానురోధినా = లోకమర్యాదను అనుసరించు కవిచే, అన్యధర్మః = ఒకదాని ధర్మము, తతః అన్యత్ర = దానికంటె భిన్నమగు మరియొక వస్తువు నందు, యత్ర = ఎచట, సమ్యక్ = బాగుగా, ఆధీయతే – ఆరోపింపబడునో, సః = అది, సమాధిః = సమాధియని, స్మృతః = చెప్పబడినది. యథా = ఎట్లనగా –

మూ. కుముదాని నిమీలన్తి కమలాన్యున్మిషన్తి చ
ఇతి నేత్ర క్రియాధ్యాసాల్లబ్ధా తద్వాచినీ శ్రుతిః 94

వ్యా. కుముదాని = కలువలు, నిమీలన్తి = మూసుకొనుచున్నవి, కమలాని చ = పద్మములు, ఉన్మిషన్తి = వికసించుచున్నవి, ఇతి = ఈవిధముగా, నేత్రక్రియా ధ్యాసాత్ = నేత్రముల క్రియయొక్క ఆరోపణమువలన, తద్వాచినీ = నేత్రములకు సంబంధించిన నిమేషోన్మేషక్రియలను బోధించు, శ్రుతిః = శబ్దము, లబ్ధా = పొందబడినది (ప్రయోగింపబడినది). నిమేషమనగా కండ్లు మూయుట, ఉన్మేష మనగా కండ్లు తెరచుట, కలువలు ముకులీభవించుట, పద్మములు వికసించుట అను క్రియలయందు నిమేషత్వ – ఉన్మేషత్వములను ఆరోపించి ఆ అర్థములను బోధించుటకై ఈ పదములను ప్రయోగించుట జరిగినది. ఇట్టి ఆరోపణము సర్వప్రసిద్ధము. అందుచే ఇందు సమాధిగుణ మున్నదని అభిప్రాయము.

అవ. సాధ్యవసాయలక్షణచే ఒక వస్తువుయొక్క ధర్మములను మరియొక వస్తువుపై ఆరోపించినచో సమాధి గుణమని చెప్పి ఉదాహరణమును చూపి యున్నాడు. ఇపుడు కొన్ని శబ్దములను గౌణార్థమున, అనగా లాక్షణికార్థమున ప్రయోగించిననే అవి సుందరములుగ ఉండునని చెప్పుచున్నాడు.

మూ. నిష్ప్యతోద్గీర్ణవాన్తాది గౌణవృత్తివ్యపాశ్రయమ్
అతిసున్దరమన్యత్ర గ్రామ్యకక్షాం విగాహతే. 95

పద్మాన్యర్కాంశునిష్ఠ్యూతాః పీత్వా పావకవిప్రుషః
భూయో వమన్తీవ ముఖైరుద్గీర్ణారుణ రేణుభిః 96

ఇతి హృద్యమవద్యం తు నిష్ఠీవతి వధూరితి.

వ్యా. నిష్ఠ్యూతో... వాన్తాది 'నిష్ఠ్యూత' = (ఉమ్మివేయబడిన) 'ఉద్గీర్ణ' = (త్రేన్చి ఉమ్మివేయబడిన) 'వాన్త' = (కక్కబడిన) మొదలగు పదజాలము, గౌణవృత్తి వ్యపాశ్రయం = గౌణవృత్తిని ఆశ్రయించినదై ప్రయుక్తమైనచో, అతిసున్దరం = చాలా సుందరముగా ఉండును. అన్యత్ర = అట్లు కానిచో, అనగా ముఖ్యార్థ బోధకముగ ప్రయోగింపబడినచో, గ్రామ్యకక్షాం = గ్రామ్యపదముల తరగతిని, విగాహతే = ప్రవేశించును, (ఆ తరగతికి చెందును) ఉదా : పద్మాని = పద్మములు, అర్కాంశు నిష్ఠ్యూతాః = సూర్యుని కిరణములచే చిమ్మబడిన, పావకవిప్రుషః = అగ్నియొక్క బిందువులను (రేణువులను), పీత్వా = గ్రహించి, ఉద్గీర్ణరేణుభిః = పైకి చిమ్మబడిన పరాగములు గల, ముఖైః = ముఖములతో, భూయః = మరల, వమన్తీవ = (ఆ అగ్నికణములను) పైకి విడుచుచున్నవి వలె ఉన్నవి. ఇతి = ఈ విధముగా ప్రయోగము, హృద్యం = మనోహరమైది. తు = కాని, " వధూః =స్త్రీ, నిష్ఠీవతి = కాండ్రించి ఉమ్మివేయుచున్నది" ఇతి = ఈవిధమగు ప్రయోగము, అహృద్యం = హృద్యమైనదికాదు.

ఏదైన ఒక ఉభయ సాధారణమగు గుణమును పురస్కరించుకొని ఒక వస్తువు నందు అన్యవస్తుత్వమును ఆరోపించినచో దానికి గౌణప్రయోగమని పేరు. ఉదా : "సింహో మాణవకః" = 'ఈ పిల్లవాడు సింహము' అని యర్థము. ఇచట పిల్లవాని యందున్న శౌర్యధైర్యాది గుణములనుపట్టి ఈతని యందు సింహత్వమును ఆరోపించి 'ఈతడే సింహము' అనుచున్నాము. ఇది గౌణప్రయోగము. దీనిని లాక్షణిక ప్రయోగమని కూడ అందురు. 96వ శ్లోకములో 'నిష్ఠ్యూత' శబ్దము 'ప్రసరింప చేయబడిన' అనునర్థమునను, 'వమన్తి' అనునది చిమ్ముచున్నది అను నర్థమునను, 'ఉద్గీర్ణ' అనునది 'పైకి విడువబడిన' అను అర్థమునను ప్రయోగింపబడినవి గాన ఇవి ఆగ్రామ్యములు, ఇట్టి గౌణప్రయోగములను సమాధి యుక్తములుగ గ్రహింప వచ్చును. 'నిష్ఠీవతి వధూః' ఇత్యాదులందు పలె ముఖ్యార్థమున ప్రయోగించినచో అది గ్రామ్యము.

అవ. "అన్యధర్మమును అన్యమునందు ఆరోపించుట సమాధి" అని చెప్ప బడినది. ఒకదానియందు ఒక ధర్మమునే ఆరోపింపవలెనను నియమములేదు. అనేక ధర్మములను గూడ ఆరోపింపవచ్చును అని చెప్పుచున్నాడు.

మూ. యుగపన్నైకధర్మాణామధ్యాసశ్చ స్మృతో యథా. 97

గురుగర్భభరక్లాన్తాః స్తనన్త్యో మేఘపఙ్క్తయః
అచలాధిత్యకోత్సఙ్గమిమాః సమధిశేరతే. 98

ఉత్సఙ్గశయనం సఖ్యాః స్తననం గౌరవం క్లమః
ఇతీమే గర్భిణీధర్మా బహవోఽప్యత్ర దర్శితాః 99

వ్యా. యుగపత్ = ఒక్కుమ్మడిగా, నైకధర్మాణాం = అనేక ధర్మములయొక్క, అధ్యాసశ్చ = ఆరోపముకూడ, స్మృతః = సమాధియని చెప్పబడినది. యథా = ఎట్లనగా, గురుగర్భభరక్లాన్తాః - గురు = మేఘపక్షమున జలముచేతను, స్త్రీ పక్షమున గర్భముచేతను స్థూలమైనవియు, గర్భభరక్లాన్తాః = గర్భభారముచే (జలభారము, గర్భస్థశిశుభారము) మాంద్యముతో కూడినవియు, స్తనన్త్యః = మూలుగుచున్న, ఇమాః = ఈ, మేఘపంక్తయః = మేఘపంక్తులు, అచలాధిత్య కోత్సఙ్గం = పర్వతముల ఉపరితలము యొక్క (సఖురాలియొక్క) ఒడిని, సమధి శేరతే = ఆశ్రయించి శయినించుచున్నవి. స్థూలోదరములు గల గర్భిణీ స్త్రీలు, అలసటతో మూలుగుచు సఖురాంద్ర ఒడిలో శయనించునట్లు జల భరితములైన మేఘపంక్తులు, మందముగ నున్నవై, ధ్వని చేయుచు పర్వతోపరితలములపై ఉన్నవి అని భావము.

అత్ర = ఇచట (మేఘ పంక్తియందు), సఖ్యాః ఉత్సఙ్గశయనం = సఖురాలి ఒడిలో శయనించుట, స్తననం = ధ్వనిచేయుట, గౌరవం = భారము, క్లమః = అలసట, ఇతి = అను, ఇమే = ఈ, బహవః = అనేకములైన, గర్భిణీ ధర్మా అపి = గర్భిణీస్త్రీకి సంబంధించిన ధర్మములు కూడ, దర్శితాః = చూపబడినవి. ఆరోపింపబడినవి అని యర్థము.

మూ. తదేతత్కావ్య సర్వస్వం సమాధిర్నామ యో గుణః
కవిసార్థః సమగ్రోఽపి తమేనమనుగచ్ఛతి. 100

వ్యా. తత్ = ఈవిధముగ చమత్కారహేతు వగుటపలన, సమాధిః నామ = సమాధియనెడు, యః గుణః = ఏ గుణము కలదో, ఏతత్ = ఇది, కావ్యసర్వస్వం = కావ్యముయొక్క సర్వస్వము, సమగ్రోఽపి = సమస్తమైన, కవిసార్థః = కవి సముదాయము, తం = ప్రసిద్ధమైన, ఏనం = ఈ సమాధిగుణమును, అనుగచ్ఛతి = అనుసరించును.

మూ. ఇతి మార్గద్వయం భిన్నం తత్స్వరూపనిరూపణాత్
తద్భేదాస్తు న శక్యన్తే వక్తుం ప్రతికవి స్థితాః. 101

వ్యా. ఇతి = ఈవిధముగా, తత్స్వరూపనిరూపణాత్ = వాటియొక్క స్వరూపమును నిరూపించుటవలన, (నిరూపించిన విధమున) మార్గద్వయం = వైదర్భము, గౌడము అను మార్గద్వయము, భిన్నం = వేరైనది. ప్రతికవి = వేరు వేరు కవులలో (వేరువేరుగ), స్థితాః = ఉన్న, తద్భేదాస్తు = అవైదర్భ గౌడరీతుల అవాంతరభేదము లైతే, వక్తుం = చెప్పుటకు, నశక్యన్తే = శక్యమైనవి కావు.

అవ. కొన్ని విషయములు అనుభవైకవేద్యములే కాని, వాటిని మాటలతో చెప్పుట అసాధ్యమని చెప్పుచున్నాడు.

మూ. ఇక్షుక్షీరగుడాదీనాం మాధుర్యస్యాన్తరం మహత్
తథాపి న తదాఖ్యాతుం సరస్వత్యాపి శక్యతే. 102

వ్యా. ఇక్షుక్షీరగుడాదీనాం = చెరకు, పాలు, బెల్లము మొదలగు వాటియొక్క, మాధుర్యస్య = మాధుర్యముయొక్క, అంతరం = భేదము, మహత్ = అత్యధికమైనది. తథాపి = అట్లైనను, తత్ = ఆ మాధుర్య భేదమును, ఆఖ్యాతుం = మాటలలో చెప్పుటకు, సరస్వత్యాపి = సరస్వతి చేతకూడ, న శక్యతే = శక్యము కాదు.

మూ. నైసర్గికీ చ ప్రతిభా శ్రుతం చ బహు నిర్మలమ్
అమన్దశ్చాభియోగోఽస్యాః కారణం కావ్య సమ్పదః. 103

వ్యా. నైసర్గికీ = స్వభావసిద్ధమైన, అనగా జన్మతః లభించిన, ప్రతిభా = ప్రతిభయు, బహు = అధికమైనదియు, నిర్మలం = నిర్దుష్టమును అగు, శ్రుతం చ = వ్యాకరణ - మీమాంసా - న్యాయ - సాహిత్య - ఛందస్ - అలంకార - శ్రుతి - స్మృతి - పురాణ - ఇతిహాస - ఆగమ - నాట్య - అభిధానకోశ = కామశాస్త్ర - అర్థశాస్త్ర, యోగశాస్త్రాది విద్యాభ్యాసము, అమన్దః - అత్యధికమైన, అభియోగః = కావ్యజ్ఞులవద్ద నేర్చుకొని అభ్యాసము చేయుట అనునవి, అస్యాః = ఈ, కావ్య సమ్పదః = కావ్యసంపదకు, కారణం = కారణము.

అవ. సహజమగు ప్రతిభ లేకపోయినను నిరంతరాభ్యాసాదులచే కావ్యరచనా శక్తి లభించునని చెప్పుచున్నాడు.

మూ. నవిద్యతే యద్యపి పూర్వవాసనా
గుణానుబన్ధి ప్రతిభాన మద్భుతమ్.
శ్రుతేన యత్నేన చ వాగుపాసితా
ధ్రువం కరోత్యేవ కమప్యనుగ్రహమ్. 104

వ్యా. పూర్వవాసనాగుణానుబన్ధి = పూర్వజన్మ సంస్కారముతో సంబంధించినదియు, అనగా అట్టి సంస్కారమును పట్టి ఏర్పడునదియు, అద్భుతం = ఆశ్చర్యకరమైన, ప్రతిభానం = ప్రతిభ, న విద్యతే యద్యపి = లేకపోయినను, శ్రుతేన = శాస్త్రాద్యభ్యాసముచేతను, యత్నేన చ = ప్రయత్నముచేతను, ఉపాసితా = ఉపాసింపబడిన, వాక్ = వాక్కు, ధ్రువం = నిశ్చయముగ, కమపి = ఒకానొక, అనుగ్రహం = అనుగ్రహమును, కరోత్యేవ = తప్పక చేయును.

మూ. తదస్తతన్ద్రైరనిశం సరస్వతీ
శ్రమాదుపాస్యా ఖలు కీర్తి మీప్సుభిః,
కృశే కవిత్వేఽపి జనాః కృతశ్రమా
విదగ్ధగోష్ఠీషు విహర్తు మీశతే. 105

ఇత్యాచార్యదణ్డినః కృతౌ కావ్యాదర్శే మార్గవిభాగో నామ
ప్రథమః పరిచ్ఛేదః.

వ్యా. తత్ = ఆకారణము వలన, అస్తతన్ద్రైః = ఆలస్యము (మాంద్యము) లేని వారును, కీర్తిం = కీర్తిని, ఈప్సుభిః = పొందదలచినవారును అగు జనులచే, సరస్వతీ = సరస్వతి, శ్రమాత్ శ్రమవలన, (అనగా ప్రయత్న పూర్వకముగా), ఉపాస్యా ఖలు = తప్పక ఉపాసింపదగినది, కవిత్వే = కవిత్వము, కృశేఽపి = స్వల్పమే అయినను, కృతశ్రమాః = చేయబడిన పరిశ్రమగల, జనాః = జనులు, విదగ్ధగోష్ఠీషు = సహృదయ సమాజములయందు, విహర్తుం = విహరించుటకు, ఈశతే = సమర్థులగుదురు. ప్రయత్న పూర్వకముగ చేసిన సారస్వత సేవ ఎన్నటికిని వ్యర్థముగ పోదు. ప్రతిభా దారిద్ర్యముచే ఉత్తమకావ్య నిర్మాణమును చేయజాలకున్నను, సారస్వత సేవ చేసినవారు ఉత్తమ కావ్యరసము నాస్వాదించు శక్తిని సంపాదించుకొని సరస కవిగోష్ఠులలో రాణించగలరని తాత్పర్యము.

పుల్లేలోపాహ్వ శ్రీరామచంద్ర విరచితాయాం
బాలానన్దిన్యాం ప్రథమః పరిచ్ఛేదః సమాప్తః.

ద్వితీయః పరిచ్ఛేదః

మూ. కావ్యశోభాకరాన్ ధర్మానలఙ్కారాన్ప్రచక్షతే
తే చాద్యాపి వికల్ప్యన్తే కస్తాన్ కార్త్స్న్యేన వక్ష్యతి. 1

వ్యా. కావ్యశోభాకరాన్ = కావ్యమునకు శోభను కలిగించు, ధర్మాన్ = ధర్మములను, అలఙ్కారాన్ = అలంకారములనుగా, ప్రచక్షతే = చెప్పుదురు. తేచ = ఆ అలంకారములు, అద్యాపి = నేటికికూడ, వికల్ప్యన్తే = వివిధ రూపములతో కల్పింపబడుచున్నవి. తాన్ = అట్టి ఆ అలంకారములను, కః = ఎవడు, కార్త్స్న్యేన = పూర్తిగా, వక్ష్యతి = చెప్పగలడు?

ఇచట దండి "కావ్యశోభకు హేతువులైనవి అలంకారములు" అని అలంకార లక్షణమును చెప్పుచున్నాడు. కాని వామనుడు గుణములకును అలంకారములకును గల భేదమును చూపుటకై కావ్యశోభాకరములు గుణములనియు, ఆ శోభను అతిశయింపచేయునవి అలఙ్కారములనియు చెప్పి యున్నాడు. ***"కావ్యశోభాయాः కర్తారో ధర్మా గుణాः, తదతిశయ హేతవస్త్వలఙ్కారాः".*** ఎందరో బుద్ధిమంతులు అనేకములైన క్రొత్తక్రొత్త అలంకారములను నేటికిని కనుగొనుచునే ఉన్నారు. కావున అలంకారముల నన్నిటిని గూర్చి ఎవ్వరును పూర్తిగ చెప్పజాలరని ఉత్తరార్ధము తాత్పర్యము.

మూ. కిన్తు బీజం వికల్పానాం పూర్వాచార్యైः ప్రదర్శితమ్
తదేవ ప్రతిసంస్కర్తుమయమస్మత్పరిశ్రమః. 2

వ్యా. కిన్తు = కాని, వికల్పానాం = ఈ వివిధాలంకార భేదములకు, బీజం = బీజము, పూర్వాచార్యైః = ప్రాచీనులగు భరతముని మొదలైన ఆచార్యులచే, ప్రదర్శితం = చూపబడినది. తదేవ = ఆ బీజమునే, ప్రతిసంస్కర్తుం = స్పష్టీకరించుటకు = అయం = ఈ, అస్మత్పరిశ్రమః = మాప్రయత్నము (ఉద్దిష్ట మైనది). తరువాత ఎన్ని అలంకారభేదములు వచ్చినను వాటి బీజములు అన్నియు పూర్వాచార్యుల